ओ३म

अथर्ववेद का स्वाध्याय।



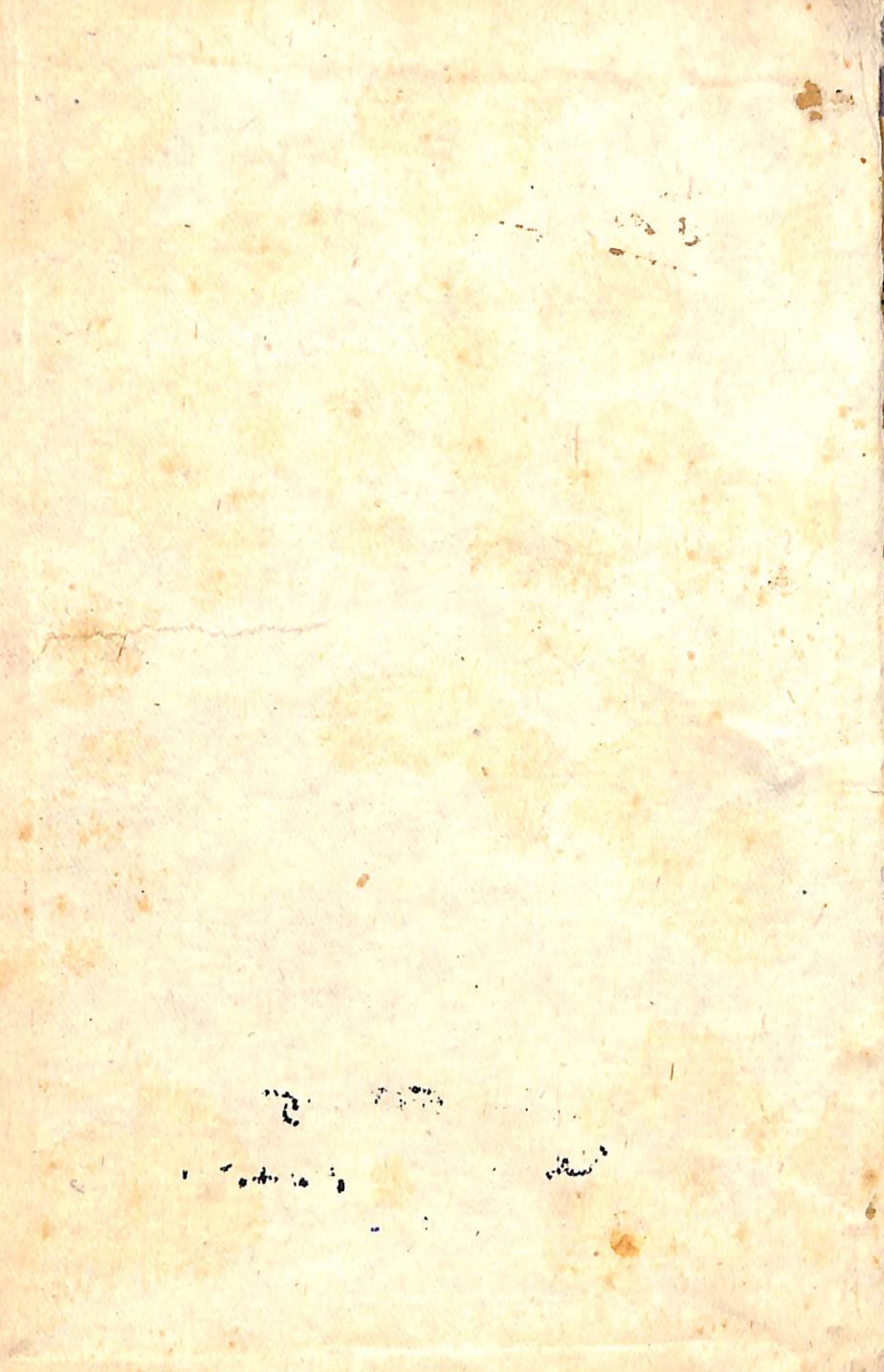
प्रथम भाग



लेखक
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर.



प्रकाशक.
राजपाल प्रबन्धकर्ता,
आर्य-पुस्तकालय, सरस्वती-आश्रम, लाहौर।



S. no 11

Shamba Kaul
D/o late Taraachand Kaul (Rezdy
Kali Mohalla

'सरस्वती-आश्रम ग्रन्थमाला' संख्या २५

अथर्व वेद का स्वाध्याय ।

प्रथम भाग

लेखक

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर.

प्रकाशक

राजपाल—प्रबन्धकर्त्ता,

आर्य्य-पुस्तकालय तथा सरस्वती-आश्रम, लाहौर ।

—o—

प्रथमवार १०००] अगस्त १९१८ [मूल्य १)

अथर्व वेद का स्वाध्याय

प्रस्तावना।

"वेदों का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना आर्यों का परम धर्म है"। जैसा वेदों का स्वाध्याय करना आर्यों का धर्म है, वैसा ही वेदों की आज्ञा के अनुकूल अपना आचरण करना, ओर दूसरों को वेदानुकूल आचरण बनाने के लिये उत्साहित करना भी आर्यों का परम कर्तव्य है। मनुष्य समाज के अन्दर स्वस्थयता, शांतता और निर्भयता स्थापित करने के लिये वैदिक धर्म के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है। बिना स्वाध्याय करने के कोई मनुष्य वैदिक-धर्म का प्रचार करने के लिये योग्य नहीं हो सकता। इसलिये प्रचार का कार्य करने से पूर्व वेदों का स्वाध्याय करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

जो मनुष्य प्रचारक नहीं बनना चाहते, परन्तु अपनी उन्नति चाहते हैं, उनको भी उचित है कि वे वेदों का स्वाध्याय अवश्य करें। मनुष्यों की हरएक प्रकार की उन्नति यदि योग्य दशा से होनी होगी, तो वेदों के बताये हुए मार्ग से ही होगी इसमें कोई सन्देह नहीं। केवल अपनी उन्नति चाहने वाले मनुष्यों को भी प्रतिदिन वेदों का स्वाध्याय करना उचित है और स्वाध्याय करके जो ज्ञान मिलेगा उसको अमल में लाना उचित है। इसलिये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चार वेदों का स्वाध्याय करके वाणी, मन, प्राण और आत्मा की पवित्रता संपादन करना प्रत्येक मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है।

स्वाध्याय के लिये छोटे छोटे उपयोगी पुस्तक जबतक नहीं बनेंगे तब तक लोगों से स्वाध्याय होना भी बड़ा कठिन कार्य है। इसलिये स्वाध्याय के छोटे २ पुस्तक बनने की आवश्यकता इस समय बहुत है। इस जरूरत का विचार मन में आने के पश्चात् वेदों पर छोटे २ स्वाध्याय के ग्रन्थ बनाने का संकल्प मैंने किया। इन स्वाध्याय के ग्रन्थों में यह अथर्ववेद का स्वाध्याय नामक दूसरा* ग्रन्थ पाठकों के सन्मुख रखा जाता है।

अथर्ववेद को ब्रह्मवेद कहते हैं, क्योंकि इस वेद में स्पष्ट शब्दों के द्वारा ब्रह्म का निरूपण किया है, तथा अन्य उपदेश ऐसे स्पष्ट शब्दों द्वारा किये हैं कि जिनको पढ़ने के पश्चात् अन्य वेदों की गुह्य बातें समझने में आसानी से आती हैं। इसलिये अथर्ववेद के स्वाध्याय-ग्रन्थ लिखने का प्रथम विचार किया, जिसको पढ़ने से पाठकों के अन्दर भी यही विश्वास आ जायगा।

स्वाध्याय करने के लिये मन्त्र के शब्दों के अर्थ और विचार करने की दशा बताने की आवश्यकता होती है। इसलिये इस पुस्तक में मन्त्र के शब्दों के अर्थ देकर, जहां जहां आवश्यकता प्रतीत हुई वहां वहां विचार करने की दिशा बताई है। स्वाध्याय करने वाले पाठकों को उचित है कि वे प्रत्येक मंत्र पर स्वतन्त्रता पूर्वक विचार किया करें, और जो जो नवीन विचार सूझेंगे उनको प्रतिदिन अपने स्मरण-पुस्तक में लिख कर रखें। स्वाध्याय करने की प्राचीन पद्धति निम्नलिखित होती थी:—

---

* पहला ईशोपनिषद् का स्वाध्याय है, जिसका मूल्य ॥=) महाशय राजपाल मैनेजर आर्य्य-पुस्तकालय लाहौर से मिल सकता है।

(१) प्रथम एक या अनेक मन्त्रों को कण्ठ करना; (२) पश्चात् उनके शब्दों के अर्थों को स्मरण करना; (३) और उसके पश्चात परस्पर मन्त्रों की संगति के विचार ध्यान में रखकर, उन मन्त्रों पर कई दिनों तक निरन्तर चिन्तन करना। पहिली अवस्था श्रवण अथवा पठन करने की है, दूसरी अवस्था कण्ठ अथवा स्मरण करने की है, तीसरी अवस्था मनन अथवा विचार करने की, चौथी अवस्था निदिध्यासन अथवा एकाग्रता से निरन्तर चिन्तन करने की है और पंचम अवस्था अनुष्ठान अथवा ज्ञान प्राप्त के अनुसार आचरण करने की है। (१) पठन, (२) स्मरण, (३) मनन, (४) निदिध्यासन, (५) और अनुष्ठान ये पांच सीढ़ियां स्वाध्याय के लिये अवश्य चढ़तीं होतीं हैं।

पाठक जब मन्त्र पढ़ेंगे और उनको अर्थ के साथ स्मरण करेंगे, तब वे अवकाश के समय उन मन्त्रों का विचार कर सकते हैं। जब जब एकान्त मिलेगा अथवा कोई विशेष कार्य नहीं होगा, उस समय उनका विचार करते रहना चाहिए। सन्ध्या के पश्चात् घंटा आधा घण्टा इस स्वाध्याय के लिये अवश्य निकालना चाहिए। घण्टा भर शांतचित्त से सन्ध्या करने के पश्चात् का समय मन्त्रों पर विचार करने के लिये बहुत ही अच्छा होता है। इसके अतिरिक्त घूमने के समय, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के समय अथवा अन्य अवकाश के समय उसी मन्त्र के ऊपर वारम्वार विचार करना चाहिए। जब तक शब्दों की पूर्वा पर संगति का महत्व ठीक ध्यान में न आ जाय तब तक उस पर चिन्तन होना चाहिए।

स्वाध्याय करने के लिये यदि एक ही विचार के दो मनुष्य साथ २ सोचते जायेंगे तो निःसन्देह बहुत लाभ होगा। यदि इस प्रकार एकत्र रहने का अवसर न मिलेगा, तो न्यून से न्यून

भ्रमण का एक घण्टा एक दो मनुष्यों को निकालना चाहिए और साथ साथ श्रवण करते हुए विचार करना चाहिए।

इस पुस्क में प्रथम शीर्षक दिया है, जिससे पता लगेगा कि मन्त्र में विषय कौनसा आने वाला है। पश्चात् मन्त्र देकर उसके नीचे मन्त्रस्थ पदों का अर्थ दण्डान्वय के साथ दिया है। पश्चात् कुछ विवरण और मन्त्रों की परस्पर संगति बताने वाला स्पष्टी-करण अथवा मन्त्रों के अर्थों पर थोड़ासा विचार लिखा है। इस विचार-विवरण से मेरा यह आशय नहीं, कि जो अपूर्व भाव मन्त्रों में है, वह सब का सब लिख दिया है। जितना अल्पमति से आवश्यक प्रतीत हुआ और सूझा उतना ही लिखा है। मन्त्रों के गहन आशय की खोज करना सर्वथैव पाठकों का कार्य है।

स्वाध्याय करने वालों से अन्त में इतनी ही प्रार्थना है कि, प्रतिदिन विचार करने के पश्चात् जो जो सुविचार सूझेंगे उनको अवश्य लिखा करें। मन में ईश प्रेरणा से आये हुए सुविचार यदि कागज़ पर न लिखे जायें तो वे सब के सब स्मरण में रखना प्रायः असम्भव है। आशा है कि, पाठक इसप्रकार स्वाध्याय करके न केवल अपनी उन्नति साधेंगे, परन्तु दूसरों को उन्नत करने का पवित्र कार्य्य भी वे इसीप्रकार कर सकते हैं।

अथर्ववेद के स्वाध्याय का यह प्रथम भाग है इस को दो भागों में सम्पूर्ण किया जायेगा, जिन भाइयों को यह पसन्द आये वह शीघ्र ही इसके दूसरे भाग के लिये अपना आर्डर (Order) म० राजपाल मैनेजर आर्य्य पुस्तकालय लाहौर के नाम भेजदें दूसरे भाग का छपना ग्राहकों की मांग पर निर्भर है॥

स्वाध्याय मंडल
औंध (सतारा)
२१-७-१८

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर।

मन्त्रों की सूची ।

विषयों की अनुक्रमणिका ।

प्राण सूक्त (५)

ब्रह्मचर्य--सूक्त (६)



ओ३म्

१ ब्रह्मसूक्त ।

(१) किस ने ब्रह्माण्ड रचा ?

अध्यात्म-व्यक्तिगत ।

केन पार्ष्णी आभृते पुरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ । केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छलंखौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ॥ १ ॥ (अथर्व० कां० १० सू० २)

अर्थ--(पुरुषस्य पार्ष्णी) मनुष्य के एडी या पीठ (केन आभृते) किसने बनाये ? (केन) किस ने (मांसं संभृतं) मांस जोड़ दिया ? (केन गुल्फौ) किस ने टखना या गट्टा बनाया ? (केन) किस ने (पेशनीः) सुंदर (अंगुली) अंगुलियां बनायीं ? (केन खानि) किसने इन्द्रियां बनायीं ? (केन उच्छलंखौ) किस ने पांव के तले बनाये तथा (मध्यतः) बीच में (प्रतिष्ठां) स्थिरता (कः) किस ने रखी ?

कस्मान्नु गुल्फावधरावकृणवन्नष्ठीवन्ता-वुत्तरौ पुरुषस्य। जंघे निर्ऋत्य न्यदधुः क्व स्विज्जानुनोः सन्धी क उ तच्चिकेत ॥२॥

अर्थ-(कस्मात् नु) किस से भला (अधरौ गुल्फौ) नीचे वाले टखने (अकृणवन्) किये गये? (पुरुषस्य) मनुष्य के (उत्तरौ) ऊपर लीं (अष्ठीवन्तौ) घुटने की हाड्डियां किस ने बनायीं? (क्व स्वित्) कहां भला (निर्ऋत्य) जाकर (जंघे न्यदधुः) जांघें रक्खीं? और (जानुनोः संधी) घुटनों के जोड़ (कः उ तत् चिकेत) किस ने भला वे किये?

चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबंधम्। श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥३॥

अर्थ-(जानुभ्यां ऊर्ध्वं) घुटनों के ऊपर (संहितान्तं) जिस के चारों कोने ठीक जुड़े हुए हैं ऐसा (चतुष्टयं) चार तयवाला (शिथिरं) ढीला (कबंधं) पेट (युज्यते) जोड़ा गया है। (याभ्यां) जिन से (कुसिन्धं) पेट और छाती का भाग धड़ (सुदृढं बभूव) मजबूद हुआ है ऐसे

(यत् तत्)जो हैं वे (श्रोणी ऊरू) पुट्ठा, कुल्हा अथवा जांघें (कः उ जजान) किस ने भला बनायीं ?

कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवा श्चिक्युः पुरुषस्य । कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान् कति पृष्टीरचिन्वन् ॥ ४ ॥

अर्थ—(कति) कितने और (कतमे) कौनसे (ते देवाः) वे देव (आसन्) थे कि (ये) जिन्हों ने (पुरुषस्य) मनुष्य की (उरः ग्रीवाः) छाती और गला (चिक्युः) जोड़ दिया। (कति) किन्हों ने (स्तनौ) स्तन (व्यदधुः) बनाये ? (कः) किस ने (कफोडौ) कोहनी और (कति) किस ने (स्कन्धान्) कंधे और (कति) किस ने (पृष्टिः) पीठ (अचिन्वन्) रचे थे ?

कौन से देवता का यह कौशल्य है कि जिस ने यह मनुष्य का अपूर्व देह बनाया ? वह देव एक है या अनेक ? कितने देवताओं ने मिलकर यह शरीर बनाया है ? अथवा एक २ अवयव बनाने के लिये भिन्न २ देवताओं ने परिश्रम किया है ? (इन चार मंत्रों का यह भाव है।)

२ कर्मेंद्रिय ।

को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवा-
दिति । अंसौ को अस्य तद् देवः कु-
सिन्धे अध्यादधौ ॥ ५ ॥

अर्थ—मनुष्य (वीर्यं करवाद् इति), शौर्य-पराक्रम करे, इसलिये (अस्य बाहू) इस के बाहू (कः समभरद्) किसने पुष्ट किये हैं ? (कः तद् देवः) कौन है वह देव कि जिसने (कुसिन्धे) धड़ के अंदर (अस्य अंसौ) इसकी भुजायें (अध्यादधौ) ठीक प्रकार लगा दीं हैं ?

मनुष्य की बाहू आदि कर्मेन्द्रियां किस की कुशलता से बनायीं गयीं? यह मंत्र कर्मेन्द्रियों का उल्लेख करता है। अगला मंत्र ७ ज्ञानेंद्रियों का वर्णन कर रहा है ॥

३ ज्ञानेन्द्रिय ।

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णा-
विमौ नासिके चक्षणी मुखम् । येषां
पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्वि-
पदो यन्ति यामम् ॥ ६ ॥

अर्थ- (कः) किस ने (शीर्षणि) शिर में (सप्त खानि) सात इन्द्रियां (वि ततर्द) बनायीं ? (इमौ कर्णौ) ये दो कान, (नासिके) दो नाक, (चक्षणी) दो आंखें और (मुखं) एक मुंह। (येषां) जिन के (विजयस्य मह्मनि) विजय के महत्व में (पुरुत्रा) सब प्रकार से (चतुष्पदः) चार पांव वाले प्राणी और (द्विपदः) दो पांव वाले प्राणी (यामं) उन्नति और गति को (यन्ति) प्राप्त होते हैं ॥

मनुष्य की उक्त सात इंद्रियां उस का विजय उस की उन्नति और उसका पुरुषार्थ साधने के लिये पर्य्याप्त हैं। इन्हीं के कारण मनुष्य विजयी बन सकता है। ऐसी विचित्र शक्ति शाली ज्ञान की इंद्रियां किस ने रचीं ? (इन्हीं इंद्रियों को सप्तरश्मी, सप्तऋषि, सप्ताश्व आदि नामों से वेद में अन्यत्र कहा है) ॥

४ वाचा-शक्ति।

हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम्। स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥७॥

अर्थ-(हन्वोः हि) दोनों दांत की पंक्तियों के बीच में ही (पुरूचीं) बहुत कार्य्यकर्त्री (जिह्वां) जिह्वा को

(अदधात) रखा है। (अथा) और (महीं वाचं) बड़ी वाक् शक्ति को (अधि शिश्राय) उस जिह्वा में रखा है । जिस ने यह किया है (सः) वह (भुवनेषु अन्तः) सब सृष्टि के अंदर (अपः वसानः) अनेक कर्मों को बसाता हुआ (आ वरीवर्ति) सबको आवरण करता है। (कः उ) कौन भला (तत्) उसको (चिकेत) जानता है [(कः) ज्ञानी (उ तत् चिकेत) उसे जानता है]।

८ बुद्धि, दिमाग़ ।

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां
प्रथमो यः कपालम्। चित्वा चित्यं हन्वोः
पुरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥८॥

अर्थ-(अस्य) इस मनुष्य का (मस्तिष्कं) मग़ज, दिमाग़ (ललाटं) शिर (ककाटिकां) शिर की हड्डी और (कपालं) सिर की खोपड़ी (यः) किस (प्रथमः) पहिले (यतमः) अनेकोंमें से किस एकने बना दी है। (पुरुषस्य) मनुष्य के (हन्वोःचित्यं) दोनों हनुओं की रचना(चित्वा) बना कर जो (दिवं रुरोह)स्वर्ग को, प्रकाश को प्राप्त हुआ (स देवः) वह देव (कतमः) अनेकों में कौनसा है ?

[इस मंत्र में "यतमः, कतमः" ये शब्द "तीनों या तीन से अधिकों में से एक" ऐसा अर्थ बताते हैं। प्रकृत्यात्मा, जीवात्मा, परमात्मा इन तीनों में से किस का यह कार्य्य है ऐसा प्रश्न का तात्पर्य यहां प्रतीत होता है] ॥

मनुष्य की बुद्धि का स्थान जो शिर के अंदर है वह किस देवता ने बनाया है? अनेक देवताओं में से वह कौन सा देव है कि जिस ने यह मनुष्य का अद्भुत दिमाख़ बनाया है ॥

पाठकों ने यहां ध्यान पूर्वक देखा ही होगा कि प्रत्येक मंत्र में पूर्व मंत्र से अधिक श्रेष्ठ इंद्रियों के विषय में आश्चर्य युक्त प्रश्न किये हैं। पहिले चार मंत्रों में शरीर के बाह्य अंगों की रचना के विषय में प्रश्न किये हैं। इन अंगों की रचना कैसी अद्भुत है? किस देवता ने किस प्रकार की है? क्या एक ही देवता का यह रचना चातुर्य है या अनेक देवताओं ने सोच २ कर इस को इतना परिपूर्ण बनाया है? इस प्रकार बाह्य इंद्रियों के विषय में विचार करते २ उस से अधिक योग्यता रखने वाले कर्मेंद्रियों का वर्णन पांचवें मंत्र में आया है। जब कर्मेंद्रियों की ओर विचार की दृष्टि पड़ती है, तब उस से भी अधिक विचित्रता ज्ञानेंद्रियों में है, ऐसा प्रतीत होता है। दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख ये सात इंद्रियां हैं, जिन की अद्भुत शक्ति विचार से बाहर है। मनुष्य का महत्व तथा प्राणियों की विशेषता इन्हीं के कारण है। एक एक इंद्रियों के शक्ति का विचार करने से ही मनुष्य चकित होता है। कैसी शक्ति इन के

अन्दर रखी हैं। जिन की शक्तियों से मनुष्य उन्नति को प्राप्त होता है ऐसी ये इंद्रियां किस देवता ने बनायीं ? कैसी अद्भुत शक्ति उस देवता में होगी कि जिस ने ऐसे विलक्षण साधन मनुष्य को अर्पण किये हैं ?

इन्हीं सात इंद्रियों को सप्तऋषि, सप्तरश्मी, आदि अनेक शब्दों द्वारा वेद में वर्णित किया है। इनका विचार करते करते मुख के अंदर जो वाक्शक्ति है, उस की ओर दृष्टि जाती है। अहाहा ! कितनी विलक्षण यह वाणी की शक्ति है। जो भाव मन में आता है वह शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है। कोई कठिनता नहीं आती ! कौनसी देवता है कि जिस ने जिह्वा के अंदर यह वाचा शक्ति रखी है ?

इस सातवे मंत्र में कहा है कि संपूर्ण सृष्टि के अंदर व्यापने वाली एक शक्ति है, जिस महति शक्ति ने सृष्टि को घेरा हुआ है, और जिस की शक्ति से हर एक अवयव में अपनी अपनी कर्मशक्ति रही है। इतना कहने के पश्चात् फिर प्रश्न किया है कि (क उ तत् चिकेत ?) कौन भला उस को जानता है ? इस प्रश्न का यही उत्तर है (कः) जीवात्मा, ज्ञानी आत्मा (उ तत्) निश्चय से उसे (चिकेत) जानता है। ("कः" शब्द के अर्थ अनेक हैं:-"कौन, ब्रह्म, (soul) जीवात्मा, ज्ञानी (Learned) मन, बुद्धि, शब्द, (word), प्रकाश;(light) तेज, आनंद (प्रसन्नता) इस प्रकार एक ही वाक्य ने प्रश्न करके उसी वाक्य ने उस प्रश्न का उत्तर दिया है। देखिये वेद की कैसी खूबी है ?

वाचा शक्ति पर विचार करतेर मनन शक्ति और बुद्धि शक्ति का विचार मन में आता है। जिस के आधीन संपूर्ण इंद्रियां और वाणी की शक्ति भी है वह दिमाख़ की शक्ति है। मस्तक के हड्डियों के अंदर कितनी योजना के साथ उस को रखा है। यहां उस अपूर्व कारीगर की रचना शक्ति की पराकाष्ठा होगयी है। इस दिमाख़ का–मस्तिष्क की शक्ति का-संपूर्ण शरीर के अणुरेणू पर कैसा प्रभाव है। किस प्रकार प्रत्येक अवयव का शिर के साथ संबंध जोड़ा है, देखने से विचारी मनुष्य आश्चर्य चकित हो जाता है। बाहेर से संवेदना-ज्ञान-किस प्रकार अंदर जाता है और अंदर से प्रेरणा कैसी हर एक शरीर के हिस्से तक पहुंच जातीहै। कितनी विचित्र शक्ति बिना प्रतिबंध कार्य कर रही है। किस देवताका यह कार्य्य है? क्या जिसने शरीर बनाया उसी ने इस मस्तक को बनाया या किसी अन्य ने बनाया?

अनेक देवताओं में से कौनसे देवता ने इस अद्भुत दिमाख़ को बनाया है? इस का उत्तर भी सातवें मंत्र की तरह इसी आठवें मंत्र में है। जो (दिवं) द्युलोक,प्रकाशलोक में (रुरोह) बढ़ा,चढ़ा है (सः) वह (क-तमः) अत्यन्त आनंद मय (Full of Bliss)(देवः) प्रकाश स्वरूप है। ("कतमः" शब्द के दो अर्थ हैं (१) तीनों में से कौनसा, और (२) अत्यन्त आनंद मय पहिला अर्थ लेने से प्रश्न होता है और दूसरा अर्थ लेने से उसी का उत्तर बनता है)॥

चौथे मंत्र में "कति देवाः" कितने देव हैं कि जो इस शरीर की बनावट के लिये कार्य करते हैं ऐसा प्रश्न किया

है ? वहां संदेह किया है कि शायद् अनेक देवताओं ने मिल कर यह शरीर बनाया होगा, अथवा एक ने बनाया होगा। पांचवें मंत्र के पश्चात् अनेक देवताओं की कल्पना नष्ट होकर एक ही देव की कल्पना रही है। सातवें मंत्र में सृष्टि के अंदर बाहर व्यापक वह देव है, जिस ने यह बनाया ऐसा कहा है। यहां एक देवता की कल्पना पूर्णता से और निश्चय से बतायी है। आठवें मंत्र में उस की आनंदमयता वर्णन की है और उस का प्रकाश स्वरूप बताया है। उसके सत् (अस्तित्व existance), चित् (ज्ञान knowledge), आनंद (प्रसन्नता Bliss) इन तीनों गुणों का यहां वर्णन आया है॥

९ भोगों की प्राप्ति।

प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाध-
तन्द्र्यः। आनंदानुग्रो नंदांश्च कस्माद्
वहति पुरुषः ॥ ९ ॥

अर्थ-(उग्रः पुरुषः) शक्ति शाली आत्मा (बहुला) बहुत अनेक प्रकार के (प्रिय-अप्रियाणि) प्रिय और अप्रिय (आनंदान् नंदान् च) आनंद और प्रसन्नता (स्वप्नं) निद्रा (संबाध-तन्द्र्यः) रुकावट भय और थकावट,

इस प्रकार के बहुत भाव (कस्मात्) किस कारण (वहति) उठाता है ?

[शरीर के अंदर रहने वाला पुरुष उग्र अर्थात् प्रताप शाली होने पर भी प्रिय के साथ अप्रिय, आनंद के साथ दुःख, प्रसन्नता के साथ अप्रसन्नता, निद्रा के साथ जागृति, भय और थकान इनको किस कारण उपभोगता है ? चाहता सुख है, परन्तु इच्छा न करता हुआ भी क्यों दुःख भोगता है यह प्रश्न का तात्पर्य है]

७ स्वभावों की उत्पत्ति।

आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः।
राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः॥१०

अर्थ—(पुरुषे) इस जीव के अंदर (आर्तिः) चिंता, इच्छा, काम (अवर्त्तिः) दुर्दैव, न्यूनता, अवनति (निर्ऋतिः) अधोगति, नाश, कष्ट (अमतिः) बुद्धि हीनता (कुतः नु) कहां से भला आते हैं। तथा (राद्धिः) सिद्धि (समृद्धिः) साधनों की विपुलता (अव्यृद्धिः) वृद्धि, विजय, उत्कर्ष (मतिः) बुद्धि और (उदितयः) उदय की सिद्धता (कुतः) कहां से आती है ?

[कोई पुरुष सदा चिंता, अधोगति, कष्ट, अविचार में रहने से अवनति को जाता है। परन्तु दूसरा कोई सिद्धि, समृद्धि, स्वास्थ्य, सुविचार में रहने से उन्नति को प्राप्त होता है। यह क्यों होता है? ऐसा प्रश्न इस मंत्र में है]

नववें मंत्र में भोगों के विषय में कहा है। प्रिय और अप्रिय ऐसे भोग मनुष्य भोगता है। प्रत्येक इंद्रिय के प्रिय भोग और उसी के लिये अप्रिय भोग भिन्न हैं। मनुष्य चाहता है कि मैं प्रिय भोगों को ही भोग लूं। परन्तु प्रिय भोगों के साथ अप्रियों को भोगना पड़ता है? किस नियामक शक्ति की व्यवस्था से ऐसा होता है ऐसा प्रश्न यहां किया है। १ (स्वप्नं) निद्रा, गाढ़-निद्रा, सुपना, ख्वाब मनुष्य प्रतिदिन अनुभवता है, निद्रा से शरीर का स्वास्थ्य पाता है। २ (तन्द्रिः) सुस्ति, निद्रा लगने की अवस्था, थकावट, विश्राम की अभिलाषा प्रतिदिन मनुष्य को प्राप्त होती है। ३ (सं+बाध) बाधा, रुकावट, चारों ओर से बंद हुआ हुआ (Locked up), प्रतिबंध (Obstructions), कठिनता (Difficulty), भीति (Danger), उन्नति के मार्ग में रुकावट (impediment), ऊपर का दबाव जिस के कारण उत्कर्ष होना बंद होता है। सब प्रकार की रुकावटें इस संबाध में आती हैं। मनुष्य के लिये प्रतिदिन इनके साथ लड़ना पड़ता है। और मुष्किलों में से अपना मार्ग निकालना और ढूंड़ना पड़ता है। येरुकावटें मनुष्य को क्यों सताती हैं ऐसा यहां प्रश्न पूछा है। प्रत्येक मनुष्य ने इनका कारण ढूंड़ना चाहिए। (नंद) हर्ष, सुख,

(Happiness) इंद्रियों की प्रसन्नता तथा (आनंद)(Bliss) कल्याण, शांति,इनकी प्राप्ति किस कारण होती है? क्या कोई नियत मार्ग से इन की प्राप्ति होती है अथवा यदृच्छा से ये भोग और कष्ट मिलते हैं यह भाव इस प्रश्न में है। इस मंत्र में पुरुष शब्द (पुर×उष) शरीर में रहने वाला जीवात्मा का वाचक है। उसका विशेषण (उग्रः) है, इस का अर्थ-शक्तिशाली(powerfull) ओजस्वी (Mighty) शरीफ, सुशील (Noble) कर्मकुशल (Industrious) तेजस्वी, भव्य, दिव्य ऐसा अर्थ है। पुरुषार्थी तेजस्वी जीवात्मा होने पर भी प्रिय के साथ अप्रिय भोग क्यों भोगता है? किस नियम से और किस नियन्ता के द्वारा यह भोगों का चक्र चलाया जा रहा है? यह आशय नवम मंत्र का है॥

नवम मंत्र में भोगों का विचार करके दशम मंत्र में स्वभावों और साधनों का विचार किया है। १-(आर्तिः) आपत्ति, चिंता, विपत्ति (distress afflictions), दुःख भोग, कष्ट, (Pain) शारीरिक या मानसिक नुकसान (Injury)शारीरिक और मानसिक यातना, दुष्टता(Mischief) शरारत, व्याधि, आधि, नाश, अवनति । २-(अवर्तिः) दुर्दैव, अवनति, (going down) निर्धनता, न्यूनता। ३-(निर्ऋति) ऋत नामक परमेश्वरीय अटल नियम तोड़ कर व्यवहार करना, घटजाना (decay),विनाश(distruction) वियोग-पृथकता-(desolution) को प्राप्त होना, लानत (Imprication) को प्राप्त होना। ४-(अ+मतिः) निर्बुद्धता,

विचार न करना, मिथ्या ज्ञान में रमना, दुष्ट बुद्धि (evil minded, wicked) बनना, हीन, दीन, दुर्बल होना। ये अवनति को लेजाने वाले दुष्ट गुण मंत्र के प्रथम अर्ध म लिखे हैं और पूछा है कि ये दुर्गुण मनुष्य में किस कारण उत्पन्न होते हैं।

इसी दशम मंत्र के उतरार्द्ध में उन्नति के साधक गुणों का वर्णन आया है। १-(राद्धिः) परिपूर्णता (accomplishment),कमाल (Perfection), पराकाष्ठा को पहुंचाना, विजय (success) उत्कर्ष, अभ्युदय (Prosperity)। २-(समृद्धि-सं+ऋद्धि) उन्नति, वृद्धि (growth),तरक्की (thriving, flourishing) प्राप्त करनी, विपुलता, साधन संपन्नता (abundance, exuberance) शक्ति, प्रधानता, मुख्यपन (supremacy) संपत्ति आदि प्राप्त होनी ३-(व्यृद्धि) समृद्धि का उलटा अर्थ व्यृद्धि (वि-ऋद्धि) विगतऋद्धि का है। "अ+वि+ऋद्धि" का अर्थ व्यृद्धि का निषेध है। सब आपत्तियों की गणना व्यृद्धि में होती है उन सब का निषेध "अ+व्यृद्धि" शब्द ने किया है। समृद्धि के सब विरोधि भावों का प्रतिकार अव्यृद्धि शब्द बता रहा है। अर्थात् अव्यृद्धि शब्द का अर्थ वृद्धि-विजय-उत्कर्ष के मार्ग में आने वाले सब प्रतिबंधों का नाश ऐसा है। ४-(मतिः) मननशक्ति, विवेक विचार,बुद्धि,स्मरण शक्ति।५-(उदितिः) उदय, अभ्युदय, उत्कर्ष, उन्नत अवस्था, बधाई।

इस प्रकार ये उन्नति के साधन, उत्कर्ष के स्वभाव हैं। इनके कारण मनुष्य उन्नति प्राप्त करता है। यह साधन संपन्नता मनुष्य को किस कारण प्राप्त होती है? ऐसा प्रश्न इस मंत्र में पूछा है। कोई मनुष्य प्रयत्न करता हुआ विपन्न अवस्था में जाता है। दूसरा कोई अनेक वार उपदेश करने पर भी कुमार्ग में ही जाता है, तिसरा कोई जो जो कार्य करता है वह विफल होता है, चवथा कोई मनुष्य पुरुषार्थ न करने पर भी साधन संपन्न होता है, पांचवां कोई पुरुष बड़े परिश्रम से कुछ साधन प्राप्त करता है, छठा कोई मनुष्य विद्वानों के पास जाकर विद्या ग्रहण करके बड़ी दक्षता के साथ पुरुषार्थ करके उच्च अवस्था प्राप्त करता है। इस प्रकार मनुष्यों में विविधता दीखती है इस का क्या हेतु है? क्या यह विविधता किसी नियम के अनुकूल होती है? यदि किसी नियन्ता का नियम है तो कौनसा नियम है ऐसी पृच्छा इन दो मंत्रों में की है! प्रत्येक विचारी मनुष्य को उचित है कि वह इस प्रकार विचार करता है॥

८ रुधिराभिसरण।

को अस्मिन्नापो व्यदधात् विषूवृतः पुरूवृतः सिंधुसृत्याय जाताः। तीव्रा अरुणा लोहिनी स्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ ११ ॥

अर्थ—(विषू-वृतः) सब स्थान पर घूमने वाला (पुरू-वृतः) बहुत घूमने वाला (सिंधुसृत्याय जाताः) नदियों के समान बहने केलिये उत्पन्न हुआ हुआ (आपः) रक्त उदक (अस्मिन्) इस शरीर में (कः व्यदधात्) किसने धारण किया ? तथा (तीव्राः) शीघ्र गति युक्त (अरुणाः) लाल रंग वाला (लोहिनीः) लोहे को ले जाने वाला तथा (ताम्र-धूम्राः) तांबे के धूवे के समान (ऊर्ध्वाः) ऊंचा (अवाचीः) नीचा (तिरश्चीः) तिरच्छा चलने वाला रक्त (पुरुषे) पुरुष के अन्दर किसने रखा ?

[इस मंत्र में शरीर के अंदर रुधिर चलने की कल्पना (circulation of blood) स्पष्ट है। नसों और नाडियों के अंदर ऊंची नीची और तिरच्छी गति होकर रुधिर किस की शक्ति से चलता है यह प्रश्न इस मंत्र में किया है ? "Arterial and Venous blood" ऐसा "अरुण तथा ताम्रधूम्र" इन शब्दों से भाव निकालता है ऐसा मि० ग्रिफिथ कहता है इस से सिद्ध है कि शरीर का रुधिराभिसरण वेद में है। जो कहते हैं कि रुधिराभिसरण की कल्पना योरपने सिद्ध की उन को देखना चाहिए कि इस मंत्र ने क्या कहा है]॥

९ नाम रूपों का कर्त्ता।

को अस्मिन् रूपमदधात् को मह्यानं च नामं च। गातुं को अस्मिन् कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे ॥ १२ ॥

अर्थ-(अस्मिन् रूपं) इस पुरुष के अंदर रूप-आकार और सौंदर्य (कः अदधात) किसने धारण किया? (कः मह्यानं) किसने महत्व (च) और (नाम च) नाम रखा? (अस्मिन्) इसमें (कः गातुं) कौन गति देता है, और (कः केतुं) कौन ज्ञान देता है, और इस (पूरुपे) पुरुष में (कः चरित्राणि) कौन चारित्र्य-जीवन के प्रकार धारण करता है?

ग्यारवें मंत्र में शरीर में खून का भ्रमण होरहा है, ऐसा स्पष्ट कहा है। इस समय ऐसा माना जाता है कि शरीर में रुधिर का अभिसरण चल रहा है यह शोध सतरहवीं शताब्दी में इंगलिस्तान में लगा, परन्तु इस मंत्र को देखने से पता लग जायगा कि यह बात वेद ने हज़ारों वर्ष पहिले ही उद्घोषित की थी!

इस शरीर में सब अवयवों में घूमने वाला, जैसा देश में नदी नालों द्वारा पानी भ्रमण करता है और खेती आदि

को सहायता देता है, उसी तरह शीघ्र गति युक्त लाल रंग वाला तथा दूसरा तांबे के धूवें के समान अर्थात् नीले या हरे रंग का रक्त ऊंचा और तिरछा नाडी नसों द्वारा भ्रमण कर रहा है। इस मंत्र में आया हुआ "लोहि-नीः" शब्द "लोहे को ले जाने वाला" ऐसा अर्थ बताता है। रक्त के अंदर लोहा रहता है, लोहे के सूक्ष्म अणु रक्त में मिले हुए रहते हैं। लोहित (लोह+इत) यह रक्त का नाम भी इसी लिये आया हुआ है। यह नाम ही बताता है कि रक्त में लोहा है। रक्त में से लोहा कम होने से पांडुरोग तथा अन्य रोग होते हैं। इतनी रक्त के लिये लोहे की आवश्यकता है। इसी आशय को व्यक्त करने के लिये ही "लोहि-नीः" शब्द मंत्र में आया हुआ प्रतीत होता है। जो रक्त हृदय से सब शरीर की ओर जाता है वह "अरुण" अर्थात् लाल रंग का होता है, तथा जो रक्त शरीर के सब विभागों में अपना कार्य करके शुद्ध होने के लिये वापस हृदय की ओर आता है वह "ताम्रधूम्र" तांबे के धूवें के समान नीलिमा युक्त होता है। यह सब रक्त का वर्णन है। हृदय से ऊपर भी चलता है, नीचे और तिरछा भी घूमता है। इस प्रकार गति किस कारण होती है? पानी की गति नीचे की ओर ही हुआ करती है। परन्तु इस शरीर में यह लाल पानी-रक्त-अपनी स्वाभाविक निम्नगति को छोड़ कर ऊर्ध्वगति भी धारण करता है। यह पानी में असाधारण गति किस कारण उत्पन्न हुई है? यह आशय ग्यारहवे मंत्र का है?

बारहवें मंत्र में रूप, नाम, महिमा, गति, ज्ञान तथा चारित्र्य ये गुण इस शरीर में किस की प्रेरणा से रहते हैं, ऐसा प्रश्न किया है। रूप शब्द से तेज, कांति, खूबसूरति आदि का बोध होता है। नाम शब्द से सब शब्द, वाचा, विद्या आदि का ग्रहण होता है। "मह्यानं" (महिमा) शब्द से महत्व, एक एक अवयव का अद्भुत कार्य, बुद्धि आदि का महत्व, मनन शक्ति की अपूर्वता आदिकों का बोध होता है। (गातुं) गति शब्द से प्रत्येक इंद्रिय की तथा अवयव की जो स्वाभाविक और नैमित्तिक गति हो रही है, उस का ग्रहण होता है। ज्ञान और चरित्र (जीवन) शब्द का भाव प्रसिद्ध है। ये नाम रूपादि प्रकार किस के कारण होते हैं, ऐसा प्रश्न यहां किया है। वेदान्ति लोक इस संपूर्ण जगत को नाम रूपात्मक मानते हैं। वह भाव इसी मंत्र से लिया है।

इन दोनों मंत्रों में आया हुआ "कः" शब्द ही इन प्रश्नों का उत्तर है। पूर्व मंत्रों की तरह यह मंत्र भी प्रश्नार्थक और उत्तरार्थक है। "प्रजापति वै कः" (शत० ब्रा० ७।४।१९) प्रजापति परमेश्वर ऐसा "कः" शब्द का अर्थ शतपथ ब्राह्मण में दिया है। जीवात्मा ऐसा अर्थ सातवें और आठवें मंत्र के विवरण में दिया हुआ है। इन्हीं के कारण ये सब व्यवहार चल रहे हैं, यही उत्तर इन प्रश्नों का है। इंद्रियरूप प्रजागणों का पति शरीर में जीवात्मा ही है।

१० पंच प्राणों की स्थापना।

को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानमु। समानमस्मिन् को देवोऽधि शिश्राय पूरुषे ॥ १३ ॥

अर्थ-(अस्मिन् पूरुषे) इस पुरुष में (कः प्राणं अवयत) कौन प्राणवायु को रक्षण करता है ? (कः अपानं) कौन अपान को (उ व्यानं) और कौन व्यान को रखता है ? (अस्मिन्) इसमें (समानं) समान-सब शरीर में व्याप्त-वायु को (कः देवः) कौन देव (अधि शिश्राय) रखता है ? (अर्थात् किसने इस शरीर में पांच प्राणों को रखा है ?)

११ यज्ञ सत्य अमृत।

को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे। को अस्मिन् सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम् ॥ १४ ॥

अर्थ-(अस्मिन् पुरुषे) इस पुरुष में (कः एकः देवः) कौन एक देव (यज्ञं अधि अदधात्) यज्ञ धारण करता है। (अस्मिन्) इस में (कः सत्यं) कौन सत्य और (कः अनृतं) कौन असत्य धारण करता है, तथा (कुतः) कहां से (मृत्युः) मरण आता है और (कुतः) कहां से (अमृतम्) अमरपन प्राप्त होता है ?

"परोपकार में अपने सर्वस्व का अर्पण करने" को यज्ञ कहते हैं। विद्वानों का सत्कार करना, मित्रता उत्पन्न करके संघ शक्ति बनानी, और उपकार करना ये तीन लक्षण यज्ञ के हैं। जिस कर्म में ये तीन लक्षण होंगे वह यज्ञ होगा। इस प्रकार के आत्म-यज्ञ की कल्पना इस पुरुष में किस ने उत्पन्न की ? मनुष्य में सत्य असत्य की कल्पना कैसी उत्पन्न हुई ? मनुष्य क्यों मरता है तथा किस प्रकार अमर हो सकता है, ये प्रश्न इस मंत्र में आये हैं।

तेरवें मंत्र में प्राण, अपान, व्यान और समान इन चार ही प्राणों का उल्लेख है। पांचवें उदान का उल्लेख इस मंत्र में नहीं है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में उदान का नाम तक नहीं आया है। परन्तु यजुर्वेद में पांचों प्राणों का वर्णन आया है:—

ऐन्द्रः प्राणो अंगे अंगे निदीध्यद्।
ऐन्द्रउदानो अंगे अंगे निधीतः॥ (यजु० ६।२०)

"(ऐन्द्रः) इन्द्र अर्थात जीवात्म संबंधी प्राण और उदान प्रत्येक अंग में रखा है।" य० अ० २२।३३ में प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पांचों प्राण यज्ञ में अर्पण करने की कल्पना आई है। इस प्रकार यजुर्वेद में ४।५ स्थानों पर इन प्राणों का उल्लेख आया है इस मंत्र में "ऐन्द्र" शब्द प्राणों का विशेषण आया है। जिससे इन्द्र अर्थात जीवात्मा का प्राणों के साथ संबंध स्पष्ट होता है।

चौदवें मंत्र में यज्ञ शब्द सत्कार-संगति-दान इस त्रिविध कर्म का द्योतक है। सत्य शब्द मानवी व्यवहार के नैतिक नियमों का बोधक है। ऋत शब्द परमेश्वरीय अटल सत्य नियमों का बोधक है। इन नियमों को तोड़ना * या उन को न स्वीकार करते हुए मन माने आचरण करना "अनृत (अन्+ऋत)" शब्द से अभिप्रेत है। अनृत के

---

* वास्तव में परमेश्वरीय नियम तोड़े नहीं जाते। जो उनके प्रतिकूल आचरण करता है, वही मारा जाता है। "धर्मएव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः"। यही भाव नियम तोड़ने और स्वीकारने में है॥

कारण सब प्रकार का नाश, मृत्यु, अधोगति होती है। अर्थात् ऋत और सत्य के पालन करने से अमृत अमरपन प्राप्त होता है। सब प्रति बंधों का दूर होना और पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त होना ही ऋत और सत्य के पालन करने का फल है। इस मंत्र में "एकः देवः" ये दो शब्द परमेश्वर की एकता बता रहे हैं।

१२ जीवात्मा के वस्त्र ।

को अस्मै वासः पर्यदधात् को अस्यायु रकल्पयत् । बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याऽकल्पयज्जवम् ॥ १५ ॥

अर्थ-(कः) किसने (अस्मै) इस के लिये (वासः) कपड़े-शरीर (पर्यदधात्) धारण करवाये ? (अस्य) इसका (आयुः) आयु (कः अकल्पयत्) किसने निश्चित किया ? (अस्मै) इसको (बलं) सामर्थ्य (कः प्रायच्छत्) किसने दिया ? (अस्य जवं) इसका वेग (कः अकल्पयत्) किसने किया ?

[इस मंत्र में जीवात्मा के वस्त्रों का उल्लेख है। शरीर ही इस के कपड़े होते हैं। भगवद्गीता*में श्रीकृष्णजी ने इसी

---

* वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही । गीता० ॥

बात की ध्वनी किया है-"जिस प्रकार मनुष्य पुराना वस्त्र छोड़ कर नया लेता है, ठीक उसी प्रकार जीव पुराणा शरीर छोड़कर नया लेता है।" आयु, बल और जवअर्थात् वेग की कल्पना भी शरीर के संबंध से ही होती है]॥

१३ आधि-दैविक।

केनापो अन्वंतनुत केनाहंरकरोद् रुचे।
उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे ॥१६॥

अर्थ-(केन) किसने (आपः) जल या कर्म (अन्वतनुत) चलाये, (केन) किसने (रुचे) प्रकाश के लिये (अहः) दिन (अकरोत) किया, (केन) किसने (उषसं) प्रातःकाल (अन्वैन्द्ध) उज्वलित किया और (केन) किसने (सायं भवं) सायंकाल में उत्पन्न होने वाला तेज (ददे) दिया ?

[इस मंत्र में संपूर्ण जगत् संबंधी प्रश्न है, इसलिये यह मंत्र आधि-दैविक है। जिस मंत्र में एक व्यक्ति के संबंध के प्रश्न होते हैं, वह मंत्र अध्यात्मिक कहा जाता है]॥

१४ प्रजोत्पादन।

को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरातायतामिति। मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को बाणं को नृतो दधौ ॥ १७ ॥

अर्थ–(तन्तुः) प्रजा का सूत्र-धागा (आतायताम इति) चलता रहे इसलिये (अस्मिन्) इस पुरुष में (कः रेतः) किसने रेत-वीर्य (न्यदधात्) रखा, (अस्मिन्) इस में (कः मेधां) किसने बुद्धि को (अध्यौहत) रख दिया ? (कः) किसने (बाणं) वाणी को और (कः नृतः) किसने आविर्भावों को (दधौ) धारण किया ?

["प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। तैत्ति०१।११५" इस उपनिषद् में कहा हुआ संतति अर्थात् प्रजातन्तु का विच्छेद न करने का जो उपदेश ब्रह्मचारी को दिया जाता है,वह इसी मंत्र के आधार पर है। प्रजा को उत्पन्न करने के लिये ही शरीर में वीर्य रखा गया है, यह भाव इस मंत्र में है "नृत" उस को कहते हैं कि जो इच्छा द्वेषादिक की बातें करने के समय हस्त विक्षेप होते हैं तथा मुख के ऊपर भाव व्यक्त होते हैं]॥

१५ आधि-दैविक ।

केनेमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवद् दिवम् ।
केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि
पुरुषः ॥ १८ ॥

अर्थ-(केन) किसने (इमां भूमिं) इस भूमि को (और्णोत्) व्यापा है, घेरा हुआ है (केन दिवं) किसने स्वर्ग को (पर्यभवत) व्यापा है (केन मह्ना) किसने अपने महत्व से (पर्वतान्) पर्वतों को (अभि) सब ओर से घेरा (केन) किसके सहाय से (पुरुषः) पुरुष (कर्माणि) कर्म करता है ?

[कौन भूमि स्वर्ग, पहाड़ आदि स्थानों में व्यापक है। मनुष्य किस की प्रेरणा से कर्म करता है ? वह सवितादेव का तेज हमारी बुद्धियों को प्रेरणा देता है ऐसा गायत्री मंत्र में कहा है। उस का विचार यहां करना चाहिए । किस की प्रेरणा से मनुष्य सदा कर्म करता रहता है। कौनसी शक्ति है कि जो जीव को प्रेरणा देरही है] ॥

केनं पुर्जन्यं मन्वेति केनं सोमं विचक्षणम्।
केनं यज्ञं चं श्रुद्धां चु केनांस्मिन् निहितं
मनः ॥ १९ ॥

अर्थ-पुरुष (केन) किस से (पर्जन्यं अन्वेति) पर्जन्य को प्राप्त होता है ? (केन) किस से (विचक्षणं सोमं-सउमं-) बुद्धिमान सोम-विद्वान-को प्राप्त होता है ? (केन) किस से (यज्ञं च श्रद्धां च) यज्ञ और श्रद्धा प्राप्त होती है ? और (केन) किस ने (अस्मिन्) इस में (मनः निहितं) मन रखा है ?

केन श्रोत्रिंय माप्नोति केनेमं परमेष्ठिनंम् ।
केनेमम्ग्निं पुरुषः केनं संवत्सरं मंमे ॥ २० ॥

अर्थ-(केन) किस से (पुरुषः) मनुष्य (श्रोत्रियं) विद्वान को (आप्नोति) प्राप्त होता है ? (केन) किस से (इमं परमेष्ठिनं) इस परमात्मा को प्राप्त होता है ? (केन) किस से (इमं अग्निं) इस अग्नि को प्राप्त होता है ? (केन) किस से (संवत्सरं) वर्ष को (ममे) मिनता है ?

[कोई मनुष्य बिना आयास विद्वान के पास पहुंच कर ज्ञानी बनता है, दूसरा कोई ज्ञानी की सहायता से परमेश्वर

को प्राप्त करता है, कोई यज्ञ याग करने लगता है, कोई वर्ष की गिनती करके ज्योतिषी बनता है, कोई श्रद्धा से कार्य करता है। ये सब किस के कारण होता है? अर्थात् किस की नियंत्रणा से होता है? अर्थापत्ती से विरुद्ध भावों का भी इसी प्रकार विचार किया जा सकता है। कोई बुरी संगत में फंसता है कोई परमेश्वर को छोड़ नास्तिक बनता है इत्यादि क्यों होता है। ई०]

पंद्रहवें मंत्र में जीवात्मा के वस्त्रों का उल्लेख बड़ा मनन करने योग्य है वस्त्र बदला जाता है परन्तु पहिननेवाला एक रहता है यह भाव वहां है। इसी मंत्र में आये हुए आयु, बल, जब (वेग) ये शब्द एक जन्म में प्राप्त हुए हुए शरीर के धर्म बता रहे हैं। शरीर के मरने के पश्चात् वस्त्र बदलने के समान दूसरे देह की प्राप्ति होती है, यह "वासः" शब्द से सूचित किया है।

सतरहवें मंत्र में संतति के धागे को न तोड़ने की सूचना गृहस्थ धर्म का महत्व सूचित कर रही है। वीर्य रक्षा से न केवल आरोग्य प्राप्ति होती है परन्तु प्रजातंतु का न टूटना भी वीर्य पर ही निर्भर है। इसी मंत्र में (मेधा) बुद्धि शक्ति, (वाग) वाचाशक्ति और (नृतः) आविर्भाव शक्ति इन तीनों शक्तियों का वर्णन है। बुद्धि वाचा और भावना ही मनुष्य के जीवन में प्रबल कार्य करती है, यह यहां देखना उचित है।

उन्नीसवें मंत्र में (यज्ञ) सत्कार-दान मय परोपकार का कृत्य, (श्रद्धा) दृढ़ विश्वास (Faith) धर्म श्रद्धा, इन दिव्य

गुणों के साथ मन का उल्लेख किया है। मन चंचल होने से तर्क, वितर्क, कुतर्क में घूमता हुआ यज्ञ और श्रद्धा को त्याग कर श्रद्धा भक्ति हीन बन कर (अयज्ञीय) अपवित्र कर्मों में फंसता है। इस लिये मन के साथ श्रद्धा और यज्ञ को अवश्य रखना चाहिए।

इस समय तक "कः" शब्द से जिस दिव्य शक्ति का संकेत मात्र उल्लेख किया था उसी का "परमेष्ठी" शब्द से स्पष्ट उल्लेख वीसवें मंत्रमें किया है। व्यष्टि(Individuality), समष्टि (Totality), परमेष्टि (Supreme) व्यष्टि में एक व्यक्ति; समष्टि में अनेक व्यक्तियों का समूह, परमेष्टि में संपूर्ण दृश्या दृश्य जगत् का बोध है। व्यवहार के लिये व्यक्ति में जीवात्मभाव, समष्टि में राष्ट्र-समाज-भाव तथा परमेष्टि में परमात्म भाव ले सकते हैं। परन्तु इन शब्दों द्वारा इस से भी अधिक अर्थ व्यक्त होता है। उसका योग्य स्थान पर वर्णन आजायगा॥

१९ ब्रह्म आदि कारण है।

ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम्।
ब्रह्मेममग्निं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ॥ २१ ॥

अर्थ-(ब्रह्म) ज्ञान (श्रोत्रियं आप्नोति) विद्वान को को प्राप्त करता है। (ब्रह्म) ज्ञान (इमं परमेष्ठिनं) इस

परमात्मा को प्राप्त करता है। (ब्रह्म) ज्ञान (इमं अग्निं) इस अग्रणि को प्राप्त करता है। (पुरुषः) मनुष्य (ब्रह्म) ज्ञान रूप ही (संवत्सरं ममे) वर्ष को गिनता है।

[ब्रह्म की कृपा से अथवा ज्ञान से ही मनुष्य ज्ञानी को प्राप्त कर सकता है, ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है। गुरुमन्त्र में " धियो यो नः प्रचोदयात् " (जो हमारी बुद्धियों को प्रेरणा करता है) ऐसा जो कहा है, उस का इस मन्त्र के साथ विचार करना चाहिए। पूर्व २० मन्त्रों में जो अनेक प्रश्न किए गए हैं, उन सब का उत्तर स्पष्ट शब्दों द्वारा इस मन्त्र में दिया है कि " ब्रह्म की अथवा ज्ञान की शक्ति से ही यह होरहा है "]।

१७ आत्मा के धर्म ।

केन॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ केन॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑।
केने॒दम॒न्यन्न॑क्ष॒त्रं केन॒ सत्-क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥२२॥

अर्थ–पुरुष (केन) किस से (देवां) देवों के (अनु क्षियति) साथ रहता है और (केन) किस से (दैवजनीः) दिव्य (विशः) जनता के साथ रहता है ? (इदं) यह (अन्यत्) दूसरा (न-क्षत्रं) अविनाशी है ऐसा (केन उच्यते) किस से कहा जाता है, तथा (केन) किस से (सत्-क्षत्रं) उत्तम शक्तिशाली कहा जाता है ?

[उत्तम जनता में रहना तथा विद्वानों के साथ परिचय किस के कारण होता है ? तथा यह उत्तम शक्ति है और यह अविनाशी तत्व है ऐसा किस से जाना जाता है]।

उत्तर।

ब्रह्म देवाँ अनु क्षियति ब्रह्म दैवजनीर्विशः।
ब्रह्मेदमन्यन्नक्षत्रं ब्रह्म सत् क्षत्रमुच्यते २३

अर्थ—(ब्रह्म) ब्रह्म, ज्ञान (देवा अनुक्षियति) देवों के-विद्वानों के-साथ रहता है। ब्रह्म, ज्ञान (दैव जनीः विशः) दिव्य जनता के साथ रहता है। (इदं अन्यत् न-क्षत्रं) यही दूसरा न नाश होने वाला है तथा (सत्-क्षत्रं) उत्तम शक्तिशाली है।

[ज्ञान ही विद्वानों में विशेषता है। ज्ञान ही सनातन है और ज्ञान ही बड़ी भारी शक्ति है। ब्रह्म के ईश्वर और ज्ञान ऐसे दोनों अर्थ लेकर इस मन्त्र पर विचार करना चाहिए।)

प्रश्न।

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता।
केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् २४

अर्थ–किस ने (इयं भूमिः) यह पृथिवी (विहिता) बनाई, किस ने (द्यौः) द्युलोक-स्वर्ग (उत्तरा हिता) ऊपर रखा है ? किस ने (इदं अन्तरिक्षं) यह अन्तरिक्ष-बीच का अवकाश-(ऊर्ध्वं) ऊपर (तिर्यक्) तिरछा और (व्यचः च) व्यापा हुआ (हितं) रखा है।

उत्तर।

ब्रह्म॑णा॒ भूमि॒र्विहि॑ता॒ ब्रह्म॒ द्यौ रुत्त॑रा॒ हि॒ता।
ब्रह्मे॒दमू॒र्ध्वं ति॒र्यक् चा॒न्तरि॑क्षं॒ व्यचो॒ हि॒तम्॥२५

अर्थ—ब्रह्म ने भूमि बनाई, ब्रह्म ने द्युलोक ऊपर रखा, ब्रह्म ने ही (इदं अन्तरिक्षं) वह अन्तरिक्ष (ऊर्ध्वं तिर्यक् व्यचः च) ऊपर तिरछा और नीचे व्यापा हुआ रखा है।

(ऊपर जो नक्षत्रों और तारागणों के साथ आकाश दीखता है, जो सूर्य के परला हिस्सा है उस को द्युलोक कहते हैं, क्योंकि यह सदा प्रकाशयुक्त रहता है! सूर्य से वायु मंडल तक का जो भाग है उस को अंतरिक्ष कहते हैं। जिस पर प्राण रहते हैं यह भूमि है। यही स्थूल तीन लोक हैं। ये तीनों परमेश्वर नें बनाये हैं यही भाव इस मंत्र में है]

इन (२१-२५) पांच मंत्रों में "ब्रह्मन्" शब्द विशेष महत्व का है। इस का अर्थ-परब्रह्म (Supreme being), ज्ञान, वेद मंत्र, पवित्र उपदेश, ओम्, ओंकार, तप (Austerity, Celibacy, Chastity), सत्य, जगत्कर्त्ता ईश्वर, भक्त जीवात्मा (Devout men), ज्ञानी, बुद्धि, बुद्धिमान, इतने अर्थ "ब्रह्मन्" शब्द के हैं। प्रसंगानुरूप इनका उपयोग करके मंत्रों का अर्थ जानना चाहिए। चूंकि इन सब में परमात्मा के दिव्य गुण विद्यमान हैं, इसलिये ब्रह्म शब्द से ही सब का उल्लेख किया है।

एक्कीसवें मंत्र में (१) "श्रोत्रिय-ब्रह्म" से ज्ञानी पुरुष, (२) "परमेष्टि-ब्रह्म" से सर्व व्यापक परब्रह्म, (३) "अग्नि-ब्रह्म" से तेज, (४) "संवत्सर-ब्रह्म" से काल का ग्रहण हो सकता है। इसी दृष्टि से इस मंत्र पर सोचना चाहिए।

बाईसवें और तेईसवें मंत्र में "देवाः" शब्द का अध्यात्मिक अर्थ इंद्रियां, आधि-दैविक अर्थ अग्नि, वायु, सूर्य आदि देव, और आधि-भौतिक अर्थ विद्वान और परोपकारी मनुष्य ऐसा लेना उचित है। "दैवजनीः विशः" शब्द का अर्थ मनुष्य-समुदाय, राष्ट्र, देश, जनता (a Nation, Humnity) ऐसा है। क्षत्र शब्द पौरुष का वाचक तथा नक्षत्र शब्द अविनाशीत्व का वाचक प्रतीत होता है। (न क्षराति इति न क्षत्र) जो नाश नहीं होता है, उसे नक्षत्र कहते हैं। क्षत्र शब्द से सब, पौरुष कर्मों का ग्रहण होता है।

बाईस और तेईस मंत्र में "देवों के साथ ब्रह्म का रहना" कहा है। वह, केनोपनिषद् के साथ तुलना करके देखने

योग्य है। इन्हीं मंत्रों का भाव केनोपनिषद् में लिया है। चोबीस और पचीस मंत्र में भूमि, अंतरिक्ष और द्युलोक ब्रह्म के कारण बने हैं। ऐसा कहा है, इस का संबंध "जन्माद्यस्य च यतः" इस ब्रह्मसूत्र के साथ देखने योग्य है। यह सूत्र जिस उपनिषद्वाक्य पर से रचा है, वह वाक्य निम्न लिखित है:—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।
येन जातानि जीवन्ति॥
यं प्रयन्त्यभि सं विशन्तीति।
तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति॥ तैत्ति० उ० ३।१॥

"जिस से ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिस के आधार से जीते रहते हैं, मरने के पश्चात् जिस में जाते और घुसते हैं, वह ब्रह्म है ऐसा तू जान" यही अर्थ उक्त ब्रह्म सूत्र का है। यह भाव इस मंत्र से उपनिषद् में लिया है।

अध्यात्मिक अर्थ में ब्रह्म शब्द जीवात्म पर होता है, और उस का देवों-अर्थात् चक्षु आदि इंद्रियों के साथ-शरीर में रहना होता है। आधि-दैविक अर्थ में अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवताओं के साथ परब्रह्म का रहना होता है। दोनों स्थानों में-अर्थात् शरीर के इंद्रियों में जीवात्मा से प्रेरणा तथा अग्न्यादि देवों में परमात्मा से प्रेरणा होती है। जीवात्मा-परमात्मा; ब्रह्म-परब्रह्म ये दोनों शब्द व्यष्टि समष्टि में इसी

प्रकार प्रयुक्त होते हैं। वेद मंत्रों में कई स्थानों पर तथा उपनिषदों में बहुत स्थानों में इन दोनों के लिये केवल "आत्मा" तथा केवल "ब्रह्म" शब्द का ही प्रयोग आया है। विचार न करने से अर्थ के विषय में संदेह होता है, परन्तु अध्यात्म (व्यक्ति), आधि-दैवत (समष्टि) के भावों को देखने और विचारने से कहां कैसा अर्थ लेना है, इस का विचार हो सकता है।

पहिले बीस मंत्रों में शरीर संबंधी तथा जगत् संबंधी जो अनेक प्रश्न किये थे उन सब प्रश्नों का इन मंत्रों द्वारा उत्तर दिया है। यह सब प्रकरण केनोपनिषद् के साथ पढ़ना उचित है। जिस से पता लग जायगा कि वेदों का भाव उपनिषदों में किस प्रकार उतरा है।

१८ उपासना का प्रकार।

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥२६

अर्थ-(अ-थर्वा) निश्चल योगी (अस्य) इस का (मूर्धानं) शिर (यत् हृदयं च) और जो हृदय है, इन दोनों को (सं-सीव्य) अच्छी प्रकार सी कर (पव-मानः) प्राण को (अधि-शीर्षतः) मस्तक में और(मस्ति-

ष्कात् ऊर्ध्वः) मग़ज के ऊपर (प्रेरयत्) भेजता है, प्रेरित करता है।

[थर्व का अर्थ गति। अ-थर्वा का अर्थ अगति, निश्चलता, स्थिरता। जो योगी यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि द्वारा बुद्धि स्थिर करता है, उस को "अथर्वा" कहते हैं। इस प्रकार का स्थित प्रज्ञ योगी सिर और हृदय को जोड़ता है। सिर बुद्धि का काम करता है और हृदय भक्ति और प्रेममय होता है। इन दोनों को एक कार्य्य में लगाना चाहिए। केवल ज्ञान या केवल भक्ति वह कार्य नहीं कर सकती, जो इन दोनों के मेल से हो सकता है। भक्ति के साथ ज्ञान और ज्ञान के साथ भक्ति रहनी चाहिए इस प्रकार सिर और हृदय (दिमाख और दिल) जुड़ जाने पर सिर के अन्दर दिमाख के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में-प्राणों को चढ़ाना चाहिए, यही उपासना का प्रकार है। जो दिमाखी घमण्ड में फंसते हैं, जिन को गीता में "वेदवाद रत" (वेद के शास्त्रार्थ रममाण होने वाले) कहा है तथा जो अन्ध भक्ति से "भगत" बने रहते हैं, अथवा जो बुद्धि और भक्ति को छोड़ कर केवल हठ की क्रियाओं में मग्न रहते हैं, वे उपासक नहीं हो सकते। परन्तु जो ज्ञान, भक्ति और योग इन का समान सहारा लेते हैं वे ही उपासक होते हैं]।

१९ अथर्वा का सिर।

तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥२७

अर्थ—(अथर्वणः तत् शिरः) स्थित प्रज्ञ योगी का वह सिर (वा) निश्चय से (समुब्जितः) उत्तम प्रकार से जीता हुआ (देवकोशः) देवों का कोश है। (प्राणः अन्नं अथो मनः) प्राण, अन्न और मन ये तीनों (तत् शिरः) उस शिर की (अभि रक्षति) रक्षा करते हैं।

[योगी का सिर मानो दिव्य गुणों का या देवों का स्थान है। योगी के आंख, नाक, कान देवता ही हैं। अर्थापत्ति से समझना चाहिए कि अधार्मिक पुरुष का सिर राक्षसों का स्थान है, और उन के नाक, कान, आंख ये राक्षस हैं।]

२० ब्रह्म की नगरी।

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३ स्तिर्यङ्नु सृष्टा३ः सर्वा
दिशः पुरुष आ बभूवां३। पुरं यो ब्रह्मणो
वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥२८॥

अर्थ-(ऊर्ध्वः) ऊपर (नु सृष्टाः) बने हुए और (तिर्यङ् नु सृष्टाः) तिरछे बने हुए (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं में वह (पुरुषः) पुरुष (आ बभूव) होगया है, (यः) जो (ब्रह्मणः) ब्रह्म की इस (पुरं) नगरी को (वेद) जानता है, जिस (यस्याः) नगरी के कारण इस जीव को (पुरुषः) पुरुष (उच्यते) कहा जाता है।

[(पुर्+उष्-वस) जो पुर में वसता है, उस को पुरुष कहते हैं। शरीर जीव का नगर है और सिर देवताओं का स्थान है। यह जो जानता है वह सब स्थान पर पुरुष को देखता है। जिस प्रकार जीव का यह शरीर नगर है, वैसा ही ईश का यह ब्रह्मांड नगर है]।

मंत्र २६।२७ में "अ+थर्वा" शब्द आया है। अगतिक, स्थिर, अचंचल इस प्रकार का उस का अर्थ है। योग में जो स्थिरता चाहिए उस को बताने वाला यह शब्द है। स्थित प्रज्ञ, एकाग्र मन, अचंचल बुद्धि, संयमी इंद्रियां, दृढ़ आसन धारण करने में समर्थ शरीर इत्यादि का बोध "अथर्वा" शब्द से ज्ञात होता है। अ+थर्ववेद को ब्रह्मवेद इसी लिये कहते हैं कि इस वेद में ब्रह्मज्ञान के तथा उस की प्राप्ति के योग नियम और विधि नियम बताये हैं।

दिल और दिमाग़ को जोड़ने के लिये २६वें मंत्र में कहा है। इस के विषय में जितना लिखा जाय उतना न्यून ही होगा। यही सच्ची वैदिक उपासना की कुंजी है। यही

भक्ति योग है। प्रत्येक कर्म में कुशलता इसी कारण आ सकती है। सिर और हृदय-दिमाख और दिल जो जोड़ सकता है अर्थात् एक कार्य में लगा सकता है, वही मनुष्य उच्च हो सकता है। दिमाख की तर्क वितर्क शक्ति और दिल का प्रेम एक ही स्थान में एक ही कार्य के लिये लगना चाहिए। कर्म उच्चत्तम होने चाहिए। जिन से उन्नति होसके दिल और दिमाख जोड़े जाने पर उनका उपयोग नीच कर्मों में भी होसकता है। नीच कर्मों से बचना चाहिए क्योंकि वे अवनति करते हैं।

दिमाख और दिल को एक उच्च कर्म में लगाने के साथ साथ मस्तक के अंदर के ब्रह्म रंध्र में-मग़ज (Broiz) के ऊपर प्राण को खेंचना चाहिए। यही प्राणायाम की परमावधि है। वहां जाने से जो प्रकाशमय आनंद की स्थिति अनुभव के लिये प्राप्त होती है, उसी को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। वही समाधि है। और उसी के लिये यम नियमादि योग के सब अंग हैं।

इस प्रकार का जो योगी होता है, उस को "अथर्वा" कहते हैं। उस का सिर मानो देवों का कोश-दिव्य गुणों का खज़ाना-अथवा देवताओं का राज्य होता है। यह २७ वें मन्त्र का कथन है। ज्ञानी मनुष्य की सब इन्द्रियां देवताएं हैं। उत्तम शिक्षा से उन को सच्ची देवताएं बनाना चाहिए, नहीं तो अशिक्षित पुरुष की इन्द्रियां राक्षस बनने में देरी नहीं लगेगी। मनुष्य की रक्षा प्राण, सिर (बुद्धि), अन्न तथा मन (विचार शक्ति) इन के द्वारा

होती है। अन्न से शरीर की उन्नति होती है। सिर से ज्ञान की समृद्धि होती है। प्राण के द्वारा शरीर की शुद्धि होकर चित्त की प्रसन्नता और सुस्ती आदि दूर होती है। मन की मनन-शक्ति से मनुष्य का मनुष्य-पण स्थिर रहता है। " मननात् मनुष्यः " मनन करने वाला ही सच्चा मनुष्य बनता है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह अपना सिर देवताओं का कोश बनावे।

कोश खज़ाने (Tressur) को कहते हैं। पंच कर्मेन्द्रियां और पंच ज्ञानेन्द्रियां अपना अपना अनुभव सिर में इकट्ठा करके रखतीं है। यदि इंद्रियों को शहद की मक्खियां समझी जाय तो सिर शहद का कोश है। स्थान स्थान पर के फूलों में से प्रत्येक इन्द्रिय रूपी मधु-मक्षिका मधु लाकर इस में संग्रहीत करती हैं। आत्मा मधुकर-राजा है और सब इन्द्रियां मधुमक्षिकाएं हैं,ऐसा अन्य उपनिषदों में कहा ही है।

मनुष्य का शरीर देवताओं की नगरी है, सब इन्द्रियां देवगण हैं और आत्मा देवराज है। इस आत्मा की शक्ति और सत्ता सब देवताओं द्वारा ऊपर नीचे तिरछी फैलती है और सर्वत्र कार्य करती है; ऐसा २८ मन्त्र में कहा है। इस देवताओं की नगरी में-पुरी में-जो बसता है, उस को पुरुष (पुर्-उष्) कहते हैं। आत्मा-जीवात्मा को पुरुष इस लिए कहते हैं, कि वह इस देव-नगरी में निवास करता है। शरीर ब्रह्म की-जीव की-नगरी है और इस नगरी में रहने वाला आत्मा-पुरुष-जीव है।

अपने शरीर को देवताओं की नगरी बनाने के लिए धर्म है, धर्म के नियम परिपालन करने से सब इन्द्रियां देवताएं बनती हैं। धर्म एक प्रकार का तप का जीवन है। कर्तव्य कर्म करने के लिए शीत उष्ण, सुख दुःख, हानि लाभ, मान अपमान, निन्दा स्तुति, आराम कष्ट, जय अपजय इन की परवाह न करनी और धर्म से प्राप्त हुआ हुआ अपना कर्तव्य करने में तन, मन, धन से तत्पर रहना ही धर्म का जीवन है। सब इन्द्रियों को कर्तव्य-पालन में लगाना; मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार को धर्म कार्य में अर्पण करना; सब भावनाओं को उत्कर्ष और श्रेय के मार्ग में प्रवृत्त करना ही तप का और धर्म का जीवन है। जहां "तप" नहीं वहां "पत" अर्थात् गिरावट होती है। तप से ऊपर चढ़ो या तप न करके नीचे गिरो। बीच में रहना नहीं है। तप से ही देवताएं बनी हैं, तप से ही कल्याण है; इसलिए तप का जीवन बना कर अपने शरीर को देवताओंकी नगरी बनाना और अपने आत्मा को देवराज-इन्द्र बनाना प्रत्येक का कार्य है। शतक्रतु करने से इन्द्र-पद मिलता है, इस का भाव यही है कि सैकड़ों उत्तम कर्म करने से जीव देवराज बनता है; दिव्य गुणों से प्रकाशित होने वाले को ही देवराज कहते हैं।

२१ ब्रह्मज्ञान का फल।

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः२९

अर्थ-(यः) जो (वै) निश्चय से (अमृतेन आवृतां) अमृत से भरे हुए (ब्रह्मणः) ब्रह्म के (तां पुरं) उस नगर को (वेद) जानता है, (तस्मै) उस के लिए (ब्रह्म) ब्रह्म (च ब्राह्माः च) और ब्रह्म से बने हुए, या ब्रह्मोपासक, या सब देवता (चक्षुः प्राणं, प्रजां) आंख, प्राण और सन्तान (ददुः) देते हैं।

[इस ब्रह्मनगर को जानने वाले का आंख ही सच्चा आंख है और उसी का प्राण सच्चा प्राण है और उसी को अच्छी संतान होती है]

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥

अर्थ-(यस्याः) जिस के कारण इस को (पुरुषः) पुरुष (उच्यते) कहते हैं, ऐसे (ब्रह्मणः पुरं) ब्रह्म के नगर को (यो वेद) जो जानता है (तं) उस को

(जरसः पुरा) बुढ़ापे के पहिले (चक्षुः न जहाति) आंख नहीं छोड़ती है तथा (न वै प्राणः) प्राण भी नहीं छोड़ता है ।

[इस ब्रह्म-नगर को जानने वाला ब्रह्मचारी बनता है तथा जो ब्रह्मचारी होता है, उसी की इंद्रियां वृद्धावस्था तक उस के साथ रहती हैं । परन्तु जो इंद्रियों को विषयों में फंसाता है, उस की इंद्रियां बुढ़ापे तक नहीं रहतीं । इसलिये इस ब्रह्म-नगर का विचार हर एक को करना चाहिए]

शरीर ब्रह्म की नगरी है । यहां ब्रह्म जीव का नाम है, जिस का वर्णन मंत्र २१-२५ तक के मंत्रों के साथ हुआ है । इस ब्रह्म-नगरी को जानना प्रत्येक का कर्तव्य है । इस को ब्रह्म-नगरी, ब्रह्म-पुरी, देव-नगरी, अयोध्या-नगरी कहा है । अयोध्या शब्द मंत्र ३१ में आ जायगा । यह देवताओं का नगर होने से अमृत से भरा हुआ है । अमृत आत्मा, ज्ञान या निश्रेयस का नाम है । निश्रेयस प्राप्ति-मोक्ष प्राप्ति भी इसी नगरी में रहने वाले जीवात्मा को प्राप्त हो सकती है । जीवात्मा की शक्ति से तो यह शरीर ओत-प्रोत भरा हुआ है । यही भाव अमृत से आवृत होने का है ।

"ब्रह्म" नाम आत्मा का और "ब्राह्म" नाम आत्मीय आत्म-संबंधी पदार्थों का है । जो आत्मा की शक्तियां विविध इंद्रियों में नाना कार्य कर रही हैं, वह ब्राह्म शक्तियां हैं । जो इस देव-नगरी को राक्षसों की भूमि बनाता है, उस के लिये

आत्मिक-शक्तियां वृद्धावस्था से पूर्व ही नष्ट होतीं हैं। यही भाव २६ मंत्र के उत्तर अर्ध का है। इसी की व्याख्या मंत्र ३० ने की है। इसलिये इस के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

२२ अयोध्या में स्वर्ग।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥

अर्थ-(अष्टचक्रा) जिस में आठ चक्र हैं और (नवद्वारा) जिस को नौ दरवाज़े हैं, ऐसी यह (देवानां पूः) देवताओं की नगरी "अयोध्या" है। (तस्यां) उस में (ज्योतिषावृतः) प्रकाश से भरा हुआ (हिरण्ययः) तेजोमय (कोशः) कोश है। वही (स्वर्गः) स्वर्ग अर्थात् प्रकाशमय है।

[गुदा, नाभि, हृदय, कंठ, भ्रूमध्य, सिर आदि स्थानों में जो ग्रन्थि हैं, उन को योग की परिभाषा में चक्र कहते हैं। प्राणायाम में इन चक्रों का बड़ा भारी महत्व है। २ आंख, २ नाक, २ कान, १ मुंह, १ शिस्न, १ गुदद्वार ये

नौ द्वार हैं। इन के द्वारा बाहेर की चीज़ अन्दर जाती है और अन्दर की बाहर आती है। जिस में युद्ध, कलह, झगड़ा नहीं होता है, उस को अ-योध्या कहते हैं। योगी का मन स्थिर होने के कारण वहां अच्छे और बुरे भावों का झगड़ा नहीं होता और इसी हेतु से वह सब केवल दिव्य गुणों की खान होती है। उन के नौ द्वारों से अच्छे भावों का ही प्रवाह अन्दर चलता रहता है, परन्तु साधारण मनुष्य के अन्दर अच्छे और बुरे विचारों का सदा कलह होता रहता है, दुष्ट विचार और दुराचार अन्दर घुसते हैं और नगरी का नाश करते हैं, परन्तु योगी के नगरी में सदा राम का राज्य चलता रहता है। इस नगरी में प्रकाशमय हृदय-कोश ही स्वर्ग है। यह स्वर्ग तब तक स्वर्ग रहता है जब तक वहां देवों का राज्य होता है]।

शरीर के अन्दर आठ चक्र हैं, जिन को कमल या ग्रंथि भी कहते हैं। (१) मूलाधार चक्र—पहिला मूलाधार चक्र गुदा के पास में इस का स्थान है। (२) स्वाधिष्ठान-चक्र—यह दूसरा चक्र नाभि और शिस्न के बीच में है। (३) मणिपूरक चक्र—यह तीसरा चक्र नाभि के स्थान में है। (४) अनाहतचक्र- यह चौथा चक्र हृदय के प्रदेश में है। (५) विशुद्धि चक्र—यह पांचवां चक्र विशुद्धि नाम से कंठ स्थान में है। (६) ललना चक्र—यह छठां चक्र

जिह्वामूल के पास है । (७) आज्ञा चक्र–यह सप्तम चक्र दोनों भौंहों के बीच के स्थान में है । (८) सहस्रार चक्र–यह अष्टम चक्र मस्तिष्क में रहता है । इसी के आश्रय से मनुष्य का सब मग़ज कार्य करने में समर्थ है ।

कई लोग मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि और सहस्रार ये छे चक्र ही मुख्य हैं, ऐसा मानते हैं। परन्तु कई उक्त आठ चक्रों को मुख्य मानते हैं और कई ऐसे हैं कि जो आज्ञा चक्र के ऊपर मनश्चक्र और उस के ऊपर सोमचक्र मानते हैं, इन के मत से दस चक्र होते हैं ।

यम, नियम, आसन और प्राणायाम इन चार साधनों द्वारा इन चक्रों का ज्ञान होता है । इन चक्रों का कार्य अपने अधीन करना ही योग का अभीष्ट है ।

मणिपूरक चक्र सूर्य चक्र नाम से भी प्रसिद्ध है । सूर्य चक्र का वेध प्राणायामद्वारा होने से मन शिवसंकल्पमय होता है । शरीर का जीवन, दीर्घ-आयु, बल और ओज सब इसी के आधीन है । इस का कार्य समाप्त होना ही मृत्यु है । योगी अनन्त अद्भुत शक्तियों की प्राप्ति इस की जागृति से कर सकता है । इत्यादि प्रकार इस का वर्णन करते हैं । वह सब योग के अनुष्ठान द्वारा देखने योग्य है ।

२३ यज्ञ का ज्ञान।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः

अर्थ-(त्र्यरे) तीन आरों से युक्त (त्रिप्रतिष्ठिते) तीनों के आश्रय से स्थिर रहे हुए (तस्मिन्) उस हिरण्ययें तेजोमय (तस्मिन् कोशे) उस कोश में (यत्) जो (यक्षं) पूजनीय (आत्मन्वत्) आत्म-तत्त्व है (तत्) वह (वै) निश्चय से (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी (विदुः) जानते हैं।

२४ ब्रह्म-नगरी में ब्रह्म का प्रवेश।

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥३३

अर्थ-(प्रभ्राजमानां) चमकने वाली (हरिणीं) मनोहर (यशसा सं-परि-वृतां) कीर्ति से अच्छी प्रकार घेरी हुई, (हिरण्ययीं) तेजोमय (अ-पराजितां) जिस का पराजय कभी नहीं हुआ ऐसी (पुरं) नगरी में (ब्रह्मा) ब्रह्मा (विवेश) घुसता है।

(त्र्यरे-त्रि+अरे) इस हृदय कोश के लिए तीन आरे लगे हुए हैं। जैसे चक्र में आरे होते हैं, वैसे यहां भी समझने चाहिए। तीन आरे सत्व,रज,तम होंगे। माता,पिता, गुरु इन तीनों आश्रयों पर इन का निर्भर है। "त्र्यरे, त्रिप्रतिष्ठिते" इस का और भी बहुत अर्थ हो सकता है। जिस के लिए अधिक संशोधन की आवश्यकता है। यहां "त्रिणाचिकेतः त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्म मृत्यु" जो तीनों के द्वारा प्रदीप्त होता है, तीनों का सन्धि बन कर जो तीन कर्म करता है, वही जन्म मृत्यु के पार होता है। यह कठोपनिषद् १।१७ का वचन देखने योग्य है।

इस तेजोमय हृदय कोश में यक्ष अर्थात् पूज्य, सत्कार करने योग्य ब्रह्म है। जिस को आत्मा या जीवात्मा अथवा जीव कहते हैं। यहां आया हुआ यक्ष शब्द ही केनोपनिषद् में आया हुआ है। जिस से पता लगेगा कि केनोपनिषद् का इस सूक्त के साथ कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। हृदय कोश में निवास करने वाले यक्ष को ब्रह्म-ज्ञानी पहचान सकते हैं। यह मन्त्र ३२ का भाव है।

मन्त्र ३३ में ब्रह्म शब्द आत्मा का वाचक आया है। यह आत्माराम उक्त विजयशाली, यशस्विनी, मनोहारिणी, तेजस्विनी देव-नगरी में प्रवेश करता है। इस सजे हुए अयोध्या-नगरी में श्रीराम-आत्माराम-उस समय प्रविष्ट होता है, कि जिस समय भोगी दशेन्द्रियों से काम भोग लेने वाले दशमुख राक्षस का सम्पूर्ण भोग वृत्ति प्रधान

राक्षसों के साथ युद्ध करने के पश्चात् पराजय करके सब देवताओं की विजय करके जब यश संपादन करता है, उसी समय अयोध्या नगरी में देवताओं के दिव्य गुणों के दीप जलने लगते हैं। इस दीपमाला के समय श्रीरामभद्र विजयी और यशस्वी होकर प्रवेश करता है। यह अयोध्या नगरी दशरथ की है। जहां दश इंद्रियां आत्मा के लिये रथ का कार्य करतीं हैं। जहां उस को जाना होता है, वहां ही उस की आज्ञानुसार लेजातीं हैं। जहां इंद्रियां देवताएं बनकर आत्मा की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहतीं है, वहीं राम का राज्य है। हर एक मनुष्य का शरीर "अ+योध्या" शहर बन सकता है यदि अपनी दश इंद्रियों को संयमद्वारा स्वाधीन रखा जाय। नहीं तो भोगी मनुष्य भोगाग्नि से राक्षसों के लंका के समान सदा जलता ही रहेगा। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को अपने शरीर-मन-बुद्धि की अयोध्या नगरी बना कर उसी में प्रवेश करना चाहिए।

२ उच्छिष्ट सूक्त ।

२९ नाम रूप ।

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः ।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥ १

अथर्व कां० ११ सू० ७

अर्थ-(उच्छिष्टे) ऊपर रहे हुए में-ईश्वर में-(नाम रूपं च) नाम और रूप है । (उच्छिष्टे) ईश्वर में (लोकः) पृथिव्यादि लोक (आहितः) रखा है । (उच्छिष्टे) ईश्वर में (इन्द्रः अग्निः च) इन्द्र-बिजयी-और अग्नि है (अन्तः) उच्छिष्ट के अन्दर (विश्व) सब जगत् (समाहितं) रहा है ।

[उत्-शिष्ट । उत्=ऊपर । शिष्टः-शेष । जो ऊपर शेष रहा है, उस का नाम है उच्छिष्ट । पृथिवी आदि सब लोक लोकान्तर ईश्वर के एक हिस्से में है । इस के बाहर जो विश्व को व्याप कर शेष रहा है,वह उच्छिष्ट है । "*अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्" अथर्व० कां० १९।६ में कहा है कि ईश्वर इस विश्व को चारों ओर व्याप कर शेष रहा हुआ है। ऊर्ध्व भाग में शेष रहता है, इसलिये परमेश्वर का नाम उच्छिष्ट है । इस मंत्र में 'नाम' शब्द से शब्द वेद का ग्रहण तथा 'रूप' शब्द से आकार-सृष्टि का ज्ञान होता है । जो रूप में है वही नाम में है । अथवा जो वेद में है वही सृष्टि में है]

---

* अथ-१५६ । स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥१॥ त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् ॥ २ ॥ ततो ज्यायांश्च पुरुषः ॥३॥ त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः ॥ ऋग्वेद । इन मंत्रों से त्रिपाद=तीन हिस्से ऊपर शेष ।जगत् को व्याप कर बहुत सा शेष है,यही आशय है ॥

विश्व का आधार।

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्।
आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः२

अर्थ-(उच्छिष्टे) ईश्वर में द्युलोक, पृथिवी (विश्वं) सब (भूतं) बना हुआ वस्तुमात्र (समाहितं) रहा है। (उच्छिष्टे) ईश्वर में जल, समुद्र, चन्द्र और वायु रहा है।

२६ द्वंद्वों की कल्पना।

सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि

अर्थ-(उच्छिष्टे) ईश्वर में (सत्) सत् और (असत् च) असत् ये (उभौ) दोनों द्वन्द्व हैं। (वाजः) बल, जीवन और (मृत्युः) ये दोनों उसी में हैं। (प्रजापतिः) राजा और (लौक्याः) प्रजा ये दोनों (उच्छिष्टे) ईश्वर में (आयत्ताः) बंधे हैं। (व्रः च) और वृद्धि (द्रः च अपि) हानि ये दोनों भी उसी में

है। (मयि श्रीः) मेरे अन्दर की शोभा भी उसी से प्राप्त है।

[जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के कारण उजाला और अंधेरा होता है। उसी प्रकार उच्छिष्ट के कारण सत् असत्, जीवन मरण, राजा प्रजा, वृद्धि क्षय, शोभा और विरूपता आदि द्वन्द्वों की कल्पना होती है। परमेश्वर के नियमों से इन द्वन्द्वों की उत्पत्ति है]।

२७ विश्व उत्पन्न कारक दश शक्तियां।

दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश।
नाभिमिव सर्वतश्चक्र मुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ४

अर्थ-(दृढः) दृढ़ता (दृंहस्थिरः) स्थिरता (न्यः) बल (ब्रह्म) ज्ञान (विश्वसृजः दश) जगत् उत्पन्न करने वाली दस शक्तियां (देवताः) सब देवतायें (उच्छिष्टे) ईश्वर में (श्रिताः) आश्रित हैं (नाभिं इव) जिस प्रकार नाभि के (सर्वतः) चारों ओर (चक्रं) चक्र घूमता है।

[उसी प्रकार उच्छिष्ट के आश्रय से सब अग्नि आदि देवता अपना २ कार्य करते हैं। जिस प्रकार नाभि के बिना चक्र की स्थिति नहीं हो सकती, ठीक उसी प्रकार उच्छिष्ट

के आधार के बिना अग्नि वायु आदि देवता स्वकीय कार्य करने में असमर्थ हैं। उच्छिष्ट का सामर्थ्य ही उनके अंदर विविध शक्तियों में परिणत हो रहा है]।

२८ शब्द का आधार।

ऋक्साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
हिंकार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि॥

अर्थ-ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद उच्छिष्ट में ही हैं। (उद्गीथः) गायन (प्रस्तुतं) प्रार्थना (स्तुतं) स्तुति, (हिंकारः) आग्नेयशक्ति, स्वर, साम गायन का आलाप ये सब उच्छिष्ट में ही हैं। (तत् मयि) वह मेरे अन्दर है।

[यहां से मंत्र १६ पर्यंत अनेक यज्ञों के नाम गिन कर वे सब उच्छिष्ट में है, ऐसा कहा है। मंत्र १४ में कहा है कि भूमि और समुद्र उच्छिष्ट के आश्रय से रहे हैं तथा सूर्य उसी के आश्रय से प्रकाशता है]।

२९ दिव्य गुण।

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले १७
समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः।
संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः॥१८

अर्थ-(ऋतं) विश्वव्यापी अटल नियम (सत्यं) सत्य (तपः) तपस्या (राष्ट्रं) राष्ट्र शासन आदि व्यवस्था (श्रमः) उद्योग (धर्मः) धर्म (च कर्म च) और कर्म (भूतं) जो हुआ है, (भविष्यत्) जो होना है, (वीर्यं) पराक्रम, (लक्ष्मीः) लक्ष्मी (बले बलं) बलवान का बल, ये सब उच्छिष्ट में ही हैं। (समृद्धिः) बधाई, उन्नति, (ओजः) तेज (आकूतिः) प्रभाव (क्षत्रं) क्षात्रतेज (राष्ट्रं) राष्ट्र के शासन की शक्ति (षट् ऊर्व्यः) छे बड़ी शक्तियां (संवत्सरः) वर्ष (इडा) इडा नाड़ी (प्रैषा) पिङ्गला (ग्रहाः) ग्रह (हविः) हवन सामग्री ये सब उच्छिष्ट में हैं।

[यहां से मंत्र २० तक चातुर्मास्य यज्ञ, महीने, ऋतु ये सब उच्छिष्ट में हैं, ऐसा कहा है]।

३० संसार का आश्रय।

शर्करा: सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणाः

अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिताः॥

अर्थ–(शर्करा) मट्टी, (सिकता) बालूरेत, (अश्मानः) पत्थर (ओषधयः) औषधी, (वीरुधः) वनस्पति, (तृणाः) घास, (अभ्राणि) बादल, मेघ, (विद्युतौ) बिजुली, (वर्षं) वृष्टि ये सब (उच्छिष्टे) ईश्वर में (संश्रिताः श्रिता) ठहरे हैं। अर्थात् घास के तिनके से लेकर आकाश तक सब पदार्थ उसी के आश्रय से हैं।

३१ उन्नति के प्रकार।

राद्धि प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्मह एधतुः।

अत्याप्तिरुच्छिष्ट भूतिश्चाहिता निहिता हिता

अर्थ–(राद्धिः) सिद्धि, (प्राप्तिः) लाभ (समाप्तिः) सम्पूर्णता, (व्याप्तिः) विजय (महः एधतुः) महान् उन्नति, (अत्याप्तिः) अत्यन्त समृद्धि, (भूतिः) सं-

पत्ति, ऐश्वर्य ये सब (उच्छिष्टे) ईश्वर में (आहिता, निहिता हिता) रखे हैं। अर्थात् परमेश्वर की कृपा से प्राप्त होते हैं।

३२ प्राणियों की उत्पत्ति।

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥

अर्थ—जो (प्राणेन) प्राण से जिन्दा है, और जो (चक्षुषा) आंख से देखता है, वह (सर्वे) सब (उच्छिष्टात्) ईश्वर से (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए हैं और (दिवि श्रिताः) आकाश-द्युलोक-में रहे हैं।

३३ शब्द, प्राण, आनंद और देवता।

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उ०॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या। उ०
आनंदा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये। उच्छि०॥
देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥२८॥

अर्थ—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद के साथ छन्द (अर्थात अथर्ववेद) और पुराण ये सब उच्छिष्ट से उत्पन्न हुए हैं। प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, (अ-क्षितिः) अविनाश (क्षितिः) नाश ये सब उच्छिष्ट से उत्पन्न हुए हैं। (आनन्दाः) आनन्द (मोदाः) आल्हाद, (प्रमुदः) खुषी, (अभिमोद मुदः) समाधान ये सब उच्छिष्ट से उत्पन्न हुए हैं। देव, पितर, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सर ये सब उच्छिष्ट से उत्पन्न हुए हैं और वे सब प्रकाशमय लोक में ठहरे हैं।

[परमेश्वर ही आनंद और सुख का स्रोत है,ऐसा समझ कर सब ने उसी की उपासना करनी चाहिए]।

वेद पढ़ने के समय प्रश्न होता है कि अग्नि आदि देवता परमेश्वर से भिन्न हैं या अभिन्न? इस प्रश्न का उत्तर इस सूक्त ने दिया है। अग्नि इंद्र आदि जो देवगण हैं, वे स्वतंत्र नहीं हैं। उनके अंदर जो जो विविध शक्तियां कार्य कर रही हैं, वह सब शक्तियां परमेश्वर कीं ही हैं। जिस प्रकार आंख, नाक, कान आदि इंद्रियों में जीवात्मा कीं शक्तियां कार्य करतीं हैं। उसी प्रकार अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवताओं में परमात्मा की शक्तियां कार्य कर रही हैं। परमात्म शक्ति के बिना कोई देवता स्वतंत्रतया अपना अपना कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकती, यह भाव केन उपनिषद् में स्पष्ट

रूप से कहा है। उस भाव का विचार इस सूक्त के साथ करना चाहिए। स्वाध्याय करने वाले इस विचार के साथ ही इस सूक्त को पढ़ें।

प्रथम मंत्र में "उच्छिष्टे विश्वं समाहितम्।" उच्छिष्ट में सब कुछ समाया हुआ है,ऐसा कहा है। इस एक ही वाक्य का सब सूक्त विवरण है। सब जगत् नाम-रूपात्मक है। जगत् की कल्पना दो प्रकार से होती है। एक शब्दों से और दूसरी आकार से। यदि मन और बुद्धि से शब्द और आकार निकाल दिये जायेंगे तो विश्व की कोई कल्पना मनुष्य के पास शेष नहीं रहती। तत्व-ज्ञान के लिये इसी बात का बहुत सोच विचार करना चाहिए। इस दृष्टि से यह प्रथम मंत्र अत्यन्त महत्व का है। सब संसार "नाम और रूप" इन दो शब्दों में समाप्त हुआ है। नाम और रूप के बाहर संसार का कोई पदार्थ अवशिष्ट नहीं है। यह सब विश्व उच्छिष्ट में हैं। सब लोक उच्छिष्ट में रहे हैं। लोक शब्द का अर्थ भूलोक, सूर्यलोक आदि स्थान ऐसा है और (लोक्यते इति लोकः) जो दिखाई देता है अथवा जो इंद्रियों द्वारा जाना जा सकता है, वह लोक कहा जाता है। विशेष कर आंख से देखने योग्य पदार्थ को "लोक" कहते हैं, ऐसा कई समझते हैं। परन्तु वैदिक सारस्वत में वायु-लोक, स्वर्लोक, तपोलोक, अंतरिक्ष-लोक आदि शब्द ऐसे हैं कि जो आंख से नहीं देखे जा सकते। इसलिये "लोक" शब्द का अर्थ "जो जाना जा सकता है" ऐसा करना उचित है।

दूसरा मंत्र स्पष्ट है। तीसरे मंत्र में मृत्यु आदि भी उसी के आधार पर हैं, ऐसा कहा है। मृत्यु शब्द परमेश्वर का ही वाचक है। जैसा ईश्वर उत्पादक और पालक है, वैसा ही शासक और मारक भी है। सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय वही कर रहा है। प्रजापति शब्द से उसकी पालक शक्ति का वर्णन होता है। मृत्यु शब्द से संहार शक्ति का वर्णन है। "व्रः द्रः" में दो सांकेतिक शब्द हैं। वृद्धि और क्षय की दो शक्तियां इन शब्दों के द्वारा बतायीं गयीं हैं। सत् और असत् ये शब्द तुलनात्मक ज्ञान बताते हैं। ये दो विरुद्ध शक्तियां हैं। केवल अंधेरा ही हो तो ज्ञान नहीं हो सकता। तथा केवल प्रकाश होने से भी ज्ञान नहीं हो सकता। मनुष्यों का सब ज्ञान तरतम भाव से ही होता है। एक ही स्थिति अनंतकाल तक रहने पर ज्ञान का अभाव होता है। जो ज्ञान इस समय हमें हो रहा है वह थोड़ा प्रकाश और थोड़ा अंधेरा होने से दोनों के समुच्चय से हो रहा है। किसी एक को पूर्णतया हटाने से दूसरे की भावना स्वयं हट जाती है। इसलिये सत् के ज्ञान के लिये असत् की कल्पना चाहिए। और असत् को समझने के लिये सत् की कल्पना चाहिए। अंधेरे की कल्पना न हो तो प्रकाश की कल्पना नहीं होती, और प्रकाश की कल्पना के बिना अंधेरे की कल्पना नहीं होती। आत्मा की कल्पना अनात्मा के विरोध भाव से होती है और अनात्मा की कल्पना आत्मा के विरोध-भाव से होती है। जगत् के कारण ईश्वर की कल्पना और ईश्वर के कारण जगत् की कल्पना होती है।

इन बातों को सोचने से सत् और असत् ने सब जगत् कैसा व्यापा है इस का विचार हो सकता है। इस तीसरे मंत्र में द्वन्द्वों की कल्पना विशेष प्रकार से बताई है। देखिए:—

सत्	असत्
(जन्म)	मृत्युः
वाजः-बल	(निर्बल)
प्रजा-पति	(प्रजा-संहार)
(अ-लौक्य)	लौक्य
(आत्मिक)	(लौकिक)
व्रः (वृद्धिः)	द्रः (हानि)

इन द्वन्द्वों के साथ साथ अन्य द्वन्द्व भी जानने योग्य है। स्वाध्यायी लोकों को उचित है कि इन के साथ उन का भी विचार करें। मंत्र में जिन शब्दों की ध्वनि नहीं है, उन को ऊपर कोष्ठ में रखा है और मंत्रोक्त शब्दों का बडे अक्षरों में रखा है।

चतुर्थ मंत्र में ईश्वर को नाभि कहा है। वर्तुल का मध्य बिन्दु ईश्वर है और वर्तुल जगत् है। सब के अंदर विराजमान, सब से सूक्ष्म, और सब का आधार ये तीन कल्पनाए यहां अभीष्ट हैं।

पंचम मंत्र में ऋग्वेदादि वेदों का उल्लेख करके सब शब्दों (या नामों) का वर्णन किया है। वेद के सब शब्द

ईश्वर में स्थित हैं, ऐसा कहने से उन की सनातनता वर्णन की है, तथा उन शब्दों से अंतिमध्येय जो सर्वेश्वर है, उसी का बोध अंत में होना है यह बात भी बताई है। जैसा अग्नि शब्द से लौकिक अर्थ में आग का बोध होने पर भी अलौकिक-अध्यात्मिक-अर्थ के समय जीव और ईश्वर का बोध हो सकता है। उच्छिष्ट के साथ वेद जुड़े हुए हैं, इस का यही आशय है कि वेद का एक एक उपदेश ईश्वर का वर्णन करता है।

सोलह मंत्र तक केवल यज्ञों की गिनती है। इसलिये वे मंत्र यहां नहीं दिये। सतारां और अठाहरां इन दो मंत्रों में मनुष्यों के मुख्य मुख्य कर्म और धर्मों का उत्तम वर्णन है। मनुष्य को किन किन गुणों को धारण करना चाहिए, इस का वर्णन यहां अवश्य देखने योग्य है। इन दो मंत्रों में "राष्ट्र" शब्द को दुबारा लिखा है। इस से प्रतीत होता है कि प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह अपने राष्ट्र का विचार करे।

"राष्ट्रेण आभि वर्धताम्" अथर्व कां० ६।८।७८ (राष्ट्र के साथ बढ़ो) ऐसा इसी वेद में कहा है। तथा "*ऋषियों

---

* भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे । ततो राष्ट्रं बलमोजश्चजातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥ अथर्व० १९।४१।१॥ कल्याण की इच्छा करने वाले ऋषियों ने तप और दीक्षा की। उस से राष्ट्र, बल और तेज हुआ। इसलिये विद्वान इस को नमन करें।

के तप से राष्ट्र की उत्पत्ति होती है' ऐसा अथर्ववेद में अन्यत्र कहा है। इन उपदेशों से प्रतीत होता है कि राष्ट्रकी कल्पना मन में धर कर अपने सर्व व्यवहार मनुष्य को करने चाहिए। यही मन का विस्तार करने का एक उपाय है। जो मनुष्य राष्ट्र को भूल कर तप आदि करता है उस का मन उदार नहीं होता। मन की उदारता बढ़ाने का विचार राष्ट्रीयता में है। व्यक्ति का यज्ञ राष्ट्रीयता में होना चाहिए। इस का विशेष वर्णन ईशावास्य उपनिषद् के संभूति प्रकरण में देखना उचित है।

ईशोपनिषद् का स्वाध्याय नामक पुस्तक में इस प्रकरण का वर्णन आया है। व्यक्ति की उन्नति राष्ट्र के साथ करते हुए किन बातों की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिए इस विषय का पूर्ण वर्णन संभूति प्रकरण के तीन मंत्र हैं। इन मंत्रों को यहां पढ़ना चाहिए। और राष्ट्रीयता का मेल ऋत सत्य आदि गुणों के साथ करके इन मंत्रों को विचारना चाहिए।

ईक्कीसवां मंत्र स्पष्ट है। बाईसवें मंत्र में मनुष्यों की उन्नति कितने प्रकार की है, इस बात का वर्णन है। इस मंत्र के साथ "अतिरवर्ति०" आदि ब्रह्मसूक्त का १०वां मंत्र देखना उचित है। (पृ०२७ देखो) राद्धि, प्राप्ति आदि सब शब्द उन्नति के दर्जे बताने वाले हैं।

तेईसवें मंत्र में प्राणिमात्रों का आधार उच्छिष्ट है, ऐसा कहा है। मनुष्य कितना स्वतंत्र है और कितना परतंत्र है

इस का विचार इस मंत्र से हो सकता है। जिस प्रकार पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्य स्वतंत्रता-पूर्वक विमानों द्वारा नभोमंडल में संचार करते हुए भी आकाशस्थ तारागणों पर पहुंच नहीं सकते। उसी प्रकार अपने स्वातंत्र्य के साथ उन की आधीनता परमेश्वर में हैं। मनुष्य व्यक्तिशः स्वतंत्र और संघशः परतंत्र है। इसी भाव को विश्व-व्यापक बनाने से इस के स्वातंत्र का विचार हो सकता है।

२४ से २७ तक सब मंत्र परमेश्वर के साथ जो अटूट संबंध है, उस का वर्णन कर रहे हैं। मनुष्य पृथ्वी के आश्रय पर नहीं हैं, परन्तु परमेश्वर के आश्रय पर वास्तविक है यह भाव यहां अच्छी प्रकार कहा है। देव बनने के लिये दिव्य-भावों का आश्रय करना चाहिए यह ध्वनि मंत्र २७ के अंतिम चरण में गूंज रहा है। जन्म से देव पैदा नहीं होते, परन्तु (दिविश्रिताः) दिव्य-भाव में आश्रित होने से देव बनते हैं। इसीलिये दिव्य गुण धारण करके दिव्य कर्म करने चाहिए। यही देवता बनने का मार्ग है।

३ ज्येष्ठ ब्रह्मसूत्र।

३४ सब का अधिष्ठान।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः १

अथर्व कां० १० सू० ८।

अर्थ-(यः भूतं च) जो भूत (भव्यं च) और भविष्य अर्थात् (यः च सर्वं) जो सब का (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है (यस्य च) और जिस का (केवलं स्वः) केवल आनन्द-प्रकाश-स्वरूप है (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय ब्रह्मणे) श्रेष्ठ ब्रह्म के लिए (नमः) नमस्कार है।

[भूत भविष्य काल में बनने वाले सब विश्व का अधिष्ठाता केवल आनंदमय परब्रह्म के लिये नमन करना चाहिए। अर्थापत्ति से जिस का त्रिकाल में अधिष्ठान नहीं है किसी एक काल में अस्तित्व जिस का होता है, और जो केवल आनंदमय नहीं, ऐसे दूसरे किसी निकृष्ट को उपासना नहीं करनी। वर्तमानकाल भूत और भविष्य में विभक्त होने से उस का स्वतंत्र उल्लेख यहां नहीं किया।

३८ स्कंभ का वर्णन।

स्कम्भेनेमे विष्टंभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वत् यत् प्राणन्निमिषच्च यत्॥

अर्थ-(इमे द्यौः च भूमिः च) ये द्युलोक और भूलोक (स्कंभेन विष्टभिते) उसी स्थिर ब्रह्म ने धारण किए हुए (तिष्ठतः) ठहरे हैं। (यत् प्राणत्) जो

श्वास लेता है (च यत् निमिषद्) और जो आंख खोलता है ऐसे जो (इदं सर्वं आत्मन्वत्) यह सब आत्मावाला प्राणिमात्र है वह सब (स्कंभे) उस स्थिर ब्रह्म में ही है।

[अर्थात् द्युलोक और भूलोक यह स्थिर जगत् स्कंभ के आधार से रहता है और श्वासोच्छ्वास करने वाले प्राणि मात्र भी उसी आधार से रहते हैं]।

३६ परमात्मा की किरणें।

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन् न्य१न्या अर्क-मभितोविशन्ति। बृहन् ह तस्थौ रजसो वि-मानो हरितो हरिणीराविवेश ॥ ३ ॥

अर्थ—(ह) निश्चय से (तिस्रः प्रजाः) तीन प्रकार की प्रजायें (अत्यायं आयन्) विनाश को प्राप्त हुई और (नि अन्या) और दूसरी (अभितः अर्कं) चारों ओर से सूर्य में (विशन्ति) घुसती हैं। (ह) जिस प्रकार (रजसः विमानः) रजों का अर्थात् प्रकृति परमाणुओं का जो विशेष गिनती करता है, अतएव जो

उस से (बृहन्) जो बड़ा व्यापक होकर (तस्थौ) ठहरा है, और जिस में (हरिणीः) हरण करने वाली (हरितः) किरणें (आविवेश) घुसीं हैं।

[जिस प्रकार सूर्य के अंदर किरणें घुसती हैं, उसी प्रकार सब प्रजा उस ब्रह्म के अंदर घुसती है। सवेरे सूर्य से किरणें बाहर आती हैं और शाम को फिर सूर्य में लीन हुई ऐसा दीखता है। उसी प्रकार सृष्टि के प्रारंभ में ब्रह्म से सृष्टि निकली और प्रलय के समय उसी में लीन हुई ऐसा प्रतीत होता है। वास्तव में जिस प्रकार सूर्य के आधार से जैसी उस की किरणें सदा रहती हैं, उसी प्रकार परमेश्वर के आधार से यह सृष्टि रहती है। इस मंत्र का * आधि-दैविक दृष्टि से विचार करने से निम्न भावों का बोध होता है:—

(१) सूर्य किरणों का खेंचने का गुण "हिरणीः हरितः" इन दो शब्दों से बताया है। (२) "रजसः वि-मानः बृहन्" इन तीन शब्दों में सूर्य का बड़पन वर्णन किया है। सूर्य के अंदर (रजः) परमाणुओं का (वि) विशेष (मान) प्रमाण होने से वह (बृहत्) बड़ा है। अर्थात् अन्य गोलों की अपेक्षा सूर्य में परमाणुओं की संख्या अधिक है, इसलिये वह बड़ा भारी है। (३) "तस्थौ" शब्द से वह स्थिर है ऐसा भाव

---

* स्कंभ शब्द ईश्वर, ब्रह्म, सूर्य, जीव, आधार इतने अर्थ बताता है। व्यष्टि समष्टि से तीनों अर्थों का बोध लेना चाहिए।

निकलता है। "स्था" धातु का अर्थ ही "गति से निवृत्ति" अर्थात् "स्थिरता" है। (४) मनुष्य के पूर्व तीन प्रकार की प्रजा-सृष्टि हुई, यह इस मंत्र का वर्णन बड़ा विचार करने योग्य है]।

३७ काल चक्र का वर्णन।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तत्राहतास्त्रीणि शतानि शंकवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥ ४ ॥

अर्थ—(द्वादश प्रधयः) बारा परीघ हैं। (त्रीणि नभ्यानि) तीन नाभि हैं। (तत्र ये) वहां जो (त्रीणि शतानि शंकवः) तीन सौ शंकु (अविचाचलाः) न हिलने वाले और (षष्टिः कीलाः च) और साठ खील (आहताः) रखे हैं, ऐसा जो (एकं चक्रं) एक चक्र है (क उ तत् चिकेत) कौन निश्चय से उसे जानता है ?

[बारा महिने, सरदी गरमी बरसात ये तीन काल, तीनसौ साठ दिन का यह एक कालचक्र है।]

महीनों का लौकिक नाम	महीनों का वैदिक नाम	ऋतु	काल और गुण दोष
१ चैत्रः २ वैशाखः	१ मधुः २ माधवः	...१ वसन्त	...१ ऊष्णः (अग्नि) (पित्त)
३ ज्येष्ठः ४ आसाढ़ः	३ शुक्रः ४ शुचिः	...२ ग्रीष्म	
५ श्रावणः ६ भाद्रपदः	५ नभः ६ नभस्यः	...३ वर्षा	...२ वर्षा (जल) (कफ)
७ आश्विनः ८ कार्तिकः	७ इषः ८ ऊर्जः	...४ शरद्	
९ मार्गशीर्षः १० पौषः	९ सहः १० सहस्यः	...५ हेमन्त	...३ शीत (वायु) (वात)
११ माघः १२ फाल्गुनः	११ तपः १२ तपस्यः	...६ शिशिरः	
१३ मलमासः अधिकमासः	...१३ अहंसस्पतिः		

शतपथ ब्राह्मण में काल का वर्णन करते हुए कई स्थानों में बड़ा अद्भुत ज्ञान बताया है। "एष वै मृत्युर्यत्संवत्सरः" ऐसा प्रारम्भ करके—

षष्टिं॒ च॒ त्रीणि॑ च श॒तानि॑ परि॑श्रि॒त उप॑धत्त
षष्टिं॒ च॒ त्रीणि॑ च श॒तानि॑ य॒जुष्म॑ती॒रधि

षट्त्रिंशतमथ लोकम्पृणा दश च सहस्राण्यष्टौ च शतान्युपधत्ताथ मे सर्वाणि रूपाण्युपधास्यथाथामृता भविष्यथेति ते ह तथा देवा उपदधुस्ततो देवा अमृता आसुः ॥

शतपथ १० । ४ । ३ । ८ ॥

संवत्सर अर्थात् वर्ष ही मृत्यु है । इस के ३६० परिधी और १०८०० उपधी हैं । इन को जानने से देव अमृत होते हैं । इस का विचार करने के लिये निम्नलिखित कोष्टक देखना उचित है:—

वर्ष—१	१५ प्राण—१ इदानी
अयन—२	१५ इदानी—१ एतर्हि
ऋतु—६	१५ एतर्हि—१ क्षिप्र
महीने—१२	७॥ क्षिप्र—१ घटी
पक्ष—२४	२ घटी—१ मुहूर्त्त
दिवस—३६०	३० मुहूर्त्त—१ अहोरात्र
दिन और रात्री—७२०	१५ अहोरात्र—१ पक्ष
मुहूर्त्त—१०८००	२ पक्ष—१ मास
घटि—२१६००	२ मास—१ ऋतु
क्षिप्र—१६२०००	३ ऋतु—१ अयन
एतर्हि—२४३००००	२ अयन—१ संवत्सर
इदानी—३६४५००००	
प्राण—५४६७५००००	

६० विकला—१ कला	१ मुहूर्त्त—२ घड़ी
६० कला—१ घड़ी	१ मुहूर्त्त—१२० कला
	१ मुहूर्त्त—७२०० विकला
१८ निमेष—१ काष्ठा	१ मुहूर्त्त—१२ क्षण
३० काष्ठा—१ कला	१ मुहूर्त्त—३६० कला
३० कला—१ क्षण	१ मुहूर्त्त—१०८०० काष्ठा
१२ क्षण—१ मुहूर्त्त	१ मुहूर्त्त—१९,४४०० निमेष
६ प्राण-१ विनाड़ी (पल)	१ मुहूर्त्त—२ नाड़ी
६० विनाड़ी—१ नाड़ी (घटी)	१ मुहूर्त्त—१२० विनाड़ी
६० नाड़ी—१ अहोरात्र	१ मुहूर्त्त—७२० प्राण

कालचक्र ।

काल के सब अवयवों का गणित जानने की आवश्यकता है। वेद और ब्राह्मणों में कई संख्यायें आतीं हैं। उनका बोध इस गणित से होता है। यहां थोड़ा सा दिग्दर्शन किया है। स्वाध्यायी विद्वानों को उचित है कि वे वेद के संकेतों को काल विज्ञान से जानने का यत्न करें।

काल के सूक्ष्म से सूक्ष्म विभाग का अच्छे से अच्छा उपयोग करने से और काल का कोई हिस्सा व्यर्थ न गमाने से अमर होना संभव है। परन्तु जो काल के अवयवों को निष्फल खोता है, उस का कितना अमूल्य धन नष्ट होता है इस की कल्पना उक्त गणित से होती है। दयामय परमेश्वर

ने दिया हुआ आयु रूपी अमूल्य धन व्यर्थ खोना नहीं चाहिए।

३८ छः यम।

इदं सवितर्वि जानीहि षड् यमा एकं एकजः।
तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेकं एकजः५

अर्थ—हे (सवितः) सविता! (इदं वि जानीहि) यह जानो, कि (षड् यमाः) छः यम हैं और (एक एकजः) एक अकेला ही है। (यः) जो (एषां) इन में (एकजः एकः) अकेला एक है, (तस्मिन्) उस में वे (हापित्वं) सम्बन्ध (इच्छन्ते) चाहते हैं।

[दो दो मासों का एक ऋतु होता है, इसलिये उस को यम=(जुड़ा हुआ-जोड़ा) कहते हैं। जो तेरवां मास है, वह केला ही एक है। परन्तु उस के साथ अन्य महिनों का संबंध आता है। तीन वर्षों के बाद यह अधिक मास आता है और उस का संबंध हर एक महिने के साथ हो सकता है। चान्द्र वर्ष के ३५४ दिन होते हैं और सौर (सूर्य के) वर्ष के ३६५ दिन होते हैं। ग्यारह दिनों का जो यह भेद है, वह तीन वर्षों में पूरा करके एक अधिक चांद्रमास गिन कर

सूर्य व चन्द्र के वर्षों का गणित ठीक किया जाता है। इस की सूक्ष्म गति किस ज्योतिषी से जाननी उचि

३६ गुहा का वर्णन ।

आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत् पदम्
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम्॥६॥

अर्थ-(आविः) प्रकाशित (संनिहितं) रखा हुआ परन्तु (जरत्) पुराना ऐसा जो (गुहा) गूढ़ (नाम) नामक जो (महत् पदं) बड़ा स्थान है। (तत्र) वहां (इदं सर्वं) यह सब (प्राणत्, एजत्) जीवन वाला, और चलने वाला (आर्पितं) रखा है और (प्रतिष्ठितं) आधार को प्राप्त हुआ है।

[पुराणे अर्थात् सनातन आकाश में यह सब विश्व है यह आकाश प्रकाशित होने, और बड़ा होने पर भी अत्यंत गुप्त है, गूढ़ है। गुहा शब्द से आकाश, बुद्धि, महत्तत्व आदि का बोध होता है। मनुष्य के बुद्धि में विश्व समाया जाता है। जितना ज्ञान होता है, उतनी ही विश्व-कल्पना मनुष्य कर सकता है। गुप्त होने से गुहा शब्द ब्रह्म-वाचक भी है]।

४० सहस्रार चक्र।

एकंचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि-
पश्चा। अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं
क्व 1ऽ5 बभूव ॥ ७ ॥

अर्थ–(प्र पुरा) पूर्व की ओर ऊपर चढ़ने वाला (नि पश्चा) पश्चिम की ओर नीचे उतरने वाला (सहस्राक्षरं) सहस्रों अक्षय-तत्वों से भरा हुआ, (एक एक नाभि वाला (एक चक्रं) एक ही चक्र (वर्तते) है। (अर्धेन) आधे से (विश्वं भुवनं) सब जगत् (जजान) जनाया (अस्य यद् अर्धं) इस का जो दूसरा आधा भाग है (तद् क्व बभूव) वह कहां रहा ?

[सूर्य का गोल पूर्व की ओर से ऊपर चढ़ता और पश्चिम की ओर से नीचे उतरता हुआ दिखाई देता दिन के समय संपूर्ण विश्व को जगाता है, परन्तु रात्री वह कहां होता है ? सूर्य ही कालचक्र का आधार है, जिस काल का संबंध सब सृष्टि के साथ घनिष्ठ है। अध्यात्म-पक्ष में सहस्रार शब्द मनुष्य के मस्तिष्क का वाचक है। Nervous system ज्ञान-तंतु जाल मनुष्य शरीर के आगे से

लेकर पीछे तक है। यहां अष्ट चक्रों का विषय देखने योग्य है (पृ० ८४ देखो)।

४१ उलटे बर्तन में सात-ऋषि।

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥ ९ ॥

अर्थ-(तिर्यग्बिलः) जिस का मुंह तिरछा है (ऊर्ध्वबुध्नः) जिस का तला ऊपर है, ऐसा (चमसः) चमच या कटोरा जो है, उस में (विश्वरूपं यशः) सब जगत् का रूप बताने वाला यश (निहितं) रखा है। (तद् साकं आसत) वहां साथ साथ ठहरे हैं (सप्त ऋषयः) सात-ऋषि (ये) जो ऋषि (अस्य महतः गोपाः) इस के बड़े के रक्षक (बभूवुः) बने हैं।

[आकाश-रूपी कटोरा है, जिस का तला ऊपर है और मूंह नीचे है। मानो कि इस जगत् के ऊपर आकाश-रूपी पतेले का ढंकण रखा है। उस पर जो सप्त-ऋषि हैं, वे इस के बड़े रक्षक हैं। यह आकाश का वर्णन सांकेतिक है। इस सूक्त के अंदर इसी प्रकार के संकेत है, पाठकों को विचार

की दृष्टि से देख कर उन्हें जानने का यत्न करना चाहिए। मनुष्य का सिर यह एक उलटा रखा हुआ बरतन है,जिस का मूंह नीचे और तला ऊपर है। इस में २ आंख, २ कान, २ नाक और एक मुख ये सात-ऋषि बड़े रक्षक=चौकीदार हैं। ऋषि उन को कहते हैं कि जो देखने वाले होते हैं। साधारण मनुष्यों को जो विचार नहीं समझता उस विचार का यथावत् आंदोलन करने का महान् कार्य ऋषि कर सकता है। मानवी देह के किसी अंग से ज्ञान लेने का कार्य उतना नहीं होता कि जितना उक्त सात ऋषियों के द्वारा होता है। आंख सब जगत को देखता है, कान सब शब्दों को सुनता है, नाक सब गंध लेता है,मूंह सब भक्ष्य खाकर शरीर की रक्षा करता है। ये सात-ऋषि हैं, ये द्रष्टा हैं, ये रक्षक हैं, ये पालक हैं, ऐसा समझ कर इनकी योग्यता जाननी चाहिए। कई लोक समझते हैं कि ये इंद्रियां आत्मा को फंसाने के लिये बनायीं हैं, यह शरीर एक जेलखाना है। परन्तु यह मंत्र कहता है कि ये इंद्रियां फंसाने वाली नहीं हैं, परन्तु वे बड़े ऋषि हैं। ये शरीर चोरों का ग्राम नहीं, परन्तु ऋषियों का आश्रम है। ये सिर देवताओं का नगर है ऐसा अथर्व १०।२।३१ में(पृ०५३देखो) कहा हुआ है। यह वेद का कहना और आजकल का मानना इस में कितना भेद है। जो इंद्रियों का महत्व जानेगा, वही उन से यथा-योग्य कार्य ले सकता है। जो इनको गिरने का साधन समझेगा, वह उन से क्या काम ले सकता है। इंद्रियां ऋषि

अर्थात् अध्यापक हैं चोर नहीं हैं, परन्तु सीखने वाला चाहिए। शरीर ऋषियों का आश्रम है]।

४२ सार्वदेशिक मन्त्र।

या पुरस्ताद् युज्यते या च पश्चाद् या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः। यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा सर्चाम् ॥१०॥

अर्थ—जो (पुरस्तात्) पहिले (युज्यते) उपयोग की जाती है, जो (पश्चात्) पीछे से उपयोग की जाती है, जो (विश्वतः सर्वतः) सर्वत्र उपयुक्त होती है। जिस से यज्ञ (प्राङ् तायते) आगे बढ़ता है। (तां ऋचां) वह ऋचा (त्वा पृच्छामि) तुम को पूछता हूं (कतमा सा) कौन सी वह है ?।

[जो मंत्र सब स्थान पर काम आता है, वह कौनसा मंत्र है ? यह मंत्र शायद ओंकार होगा]।

४३ विश्वरूप का आधार।

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्नि-
मिषच्च यद् भुवत्। तद् दाधार पृथिवीं विश्व-
रूपं तत् संभूयं भवत्येकमेव ॥ ११ ॥

अर्थ—(यद् एजति) जो हिलता है, (पतति) नीचे होता है (च यत् तिष्ठति) और जो स्थिर है, (प्राणद्) श्वास लेने वाला है और (अप्राणद्) श्वास न लेने वाला है (निभिषद्) आंखों को बन्द करके खोलने वाला (यद् भुवत्) जो है, (तद् विश्वरूपं) वह विश्वरूप (पृथिवीं दाधार) पृथिवी का धारण करता है। (तत् संभूय) वह मिल कर (एकं एव भवति) एक ही होता है।

[जो चलता है, परन्तु स्थिर है; जिस से गति होती है। परन्तु जो स्वयं स्थिर है, जिस से प्राण-शक्ति होती है और जो सब का रूप बनाता है, उसी के आधार से यह पृथिवी रही है। वह सब में मिलकर एक ही है। वह अनेक नहीं हैं। भगवद्गीता में ११वें अध्याय में विश्व-रूप का विस्तृत वर्णन है। वह सब यहां ध्यान में लाने योग्य है। वह विश्व-

व्यापी जगत् के पदार्थों का रूप परमेश्वर की शक्ति से होता है। यहां ईशोपनिषद् का आत्म-भाव का मंत्र देखने योग्य है (देखो ईशोपनिषद् का स्वाध्याय मंत्र सातवां)। जिस प्रकार मूर्ति का आकार पहिले मूर्तिकार के बुद्धि में तैयार होता है और पश्चात् मिट्टी या धातु के आधार से प्रकट होता है, ठीक उसी प्रकार संपूर्ण सृष्टि की रचना परमेश्वर की महान् बुद्धि में प्रथमतः बने थे और पश्चात् प्रकृति के आधार पर प्रकट होगये। अर्थात् जो संपूर्ण संसार का रूप है वह ईश्वर की बुद्धि की शक्ति है। विश्व-रूप का मूल आधार सर्व-व्यापक ईश्वर है। इसीलिये इस मंत्र में कहा है कि सब का रूप मिलकर एक ही बोध होता है। विश्व के अंतर्गत अनंत पदार्थों के विविध-रूप अनंत ईश्वरों के बोधक नहीं हैं, प्रत्युत वे सब के सब एक ही परम-तत्त्व के दर्शक हैं। अग्नि, वायु, रवि आदि विविध देवताओं के विविध आकार और विविध कार्य जिस एक बिंदू में केंद्रित होते हैं, वहां ही परमेश्वर का दिव्य स्थान या धाम है। परमेश्वर के अनंत शक्तियों का स्फुरण अनंत पदार्थों द्वारा विश्व में हुआ है। इसलिये इस विश्व का रूप वास्तव में परमात्म-शक्ति का एक विशेष आविष्कार है।

४४ अनन्त और सान्त का मेल।

अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूत-
मुत भव्यमस्य ॥ १२ ॥

अर्थ-(अनन्तं) जिस का अन्त नहीं है, ऐसा ब्रह्म (पुरुत्रा) पूर्णता से चारों ओर (वि-ततं) फैला है और (अनन्तं अन्तवत् च) अनन्त ब्रह्म और अन्त-वाला-सान्त-जगत् (सम्-अन्ते) एक होकर पास पास है। (अस्य) इस विश्व के (भूतं उत भव्यं) भूत और भविष्य को (विद्वान्) जानने वाला और (ते विचिन्वन्) उन दोनों का विभाग करके जानने वाला (नाक-पालः) आनन्द का पालक आत्मा (चरति) संचार करता है।

[अनंत ब्रह्म चारों ओर फैला है। सान्त जगत् के साथ वही अनन्त मिला है। इस का भूत भविष्य वर्तमान जानने वाला आत्मा सुख का स्वामी निःसन्देह होता है]।

४५ व्यापक प्रजापति ।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा विजायते । अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ १३ ॥

अर्थ–(अदृश्यमानः) न दीखने वाला (प्रजापति) प्रजाओं का पालक (गर्भे अन्तः) सब के मध्य के अन्दर (चरति) व्यापता है और (बहु-धा) अनेक प्रकार से (वि-जायते) विविध रीति से परिवर्तन करता है (अर्धेन) आधे से (विश्वं भुवनं) सब जगत् (जजान) उत्पन्न किया (यत् अस्य अर्धं) जो इस का दूसरा आधा है उस का (स कतमः केतुः) वह कौन सा चिन्ह है ?

यह मंत्र बड़ा मनन करने योग्य है । अवतार-वादी लोग अपने अवतार वाद को सिद्ध करने के लिये इस को पेश करते हैं । इस मंत्र में "गर्भ" शब्द बड़ा महत्त्व पूर्ण अर्थ रखने वाला है । गर्भ शब्द के निम्नलिखित अर्थ हैं:—(१) Interior of any thing प्रत्येक पदार्थ का अंदरला अवकाश । मध्य, Inside अंदर का हिस्सा, (२) The

offspring of the sky i. e. the fogs and vapour drown upwords by the rays of the sun, मेघ, बादल, (३) The bed of river when fullest. नदी का पात्र, (४) Joining, Union संमेलन, मिलाप, जुड़ जाना, योग इतने इस के अर्थ हैं। "चरति" पद में 'चर' धातु है, उस का अर्थ–To spread फैलना, to be diffused सब में फैलना, to pervade व्यापना, to be active कर्म करना, to be होना, to remain in any position एक ही अवस्था में रहना।

ये दोनों शब्दों के अर्थ देखने से पता लगता है कि " प्रजापतिः गर्भे अन्तः चरति " का अर्थ " प्रजापति परमेश्वर सब पदार्थों के अन्दर फैला है, सब में व्यापक है, सब में कार्य करता है, सब पदार्थों के साथ मिला है, और सब पदार्थों में एक जैसा है "। यह अर्थ वास्तविक है। सर्व-व्यापक ईश्वर गर्भ में आकर अवतार लेता है, ऐसा इस का अर्थ है ही नहीं।

इसी मन्त्र में "बहुधा विजायते" ये दो पद भी अवतार वादी पेश करते हैं। "वि-जन्' धातु से " विजायते " शब्द बना है। " वि-जन् " धातु का अर्थः—to generate उत्पन्न करना, to enjender पैदा करना, to bring forth उत्पन्न करना, इन अर्थों को देखने से पता लगता है कि " बहुधा

विजायते" का अर्थ "वह ईश्वर बहुत प्रकार से सृष्टि आदि की उत्पत्ति करता है"।

पूर्वोक्त उच्छिष्ट सूक्त में (पृ० ६५ देखो) ईश्वर हर एक पदार्थ के नाभी मध्यें है, ऐसा कहा है। ४३ विश्व-रूप के आधार प्रकाश मंत्र के साथ (पृ० ६७) इस मंत्र को पढ़ना चाहिए। तभी गर्भ शब्द का अर्थ स्पष्ट होगा।

"गर्भ, चरति, विजायते" इन तीनों पदों के अर्थ ठीक ठीक समझने पर मंत्र का अर्थ खुल जाता है। इसीलिये प्रत्येक शब्द का अर्थ विशेष विचार पूर्वक देखना चाहिए। अन्यथा विपरीत अर्थ भासमान हो सकता है। गर्भ शब्द के प्रयोग संस्कृत वाङ्मय में किस प्रकार होते हैं देखिए:- (१) जल गर्भं पात्रं (पानी से भरा हुआ बर्तन)। (२) अग्निगर्भा (आग को धारण करने वाली)। (३) विश्व-गर्भ (विश्व को गर्भ में धारण करने वाला अथवा जिस के बीच में विश्व है)। (४) हिरण्य-गर्भ (चमकने वाले पदार्थ जिस के बीच में हैं)। (५) गर्भ-गृह (मकान के बीच वाला कमरा)। (६) गर्भागार मंदिर के बीच वाली जगह। मंदिरों में जहां मूर्तियां रखते हैं, उस स्थान का नाम भी यही रखा है। इनमें गर्भ शब्द के मूल अर्थ हैं। इस मंत्र का अर्थ सोचने से पूर्व गर्भ शब्द का अर्थ अच्छी प्रकार ध्यान में लाना चाहिए।

४६ देखते हुए समझते नहीं।

ऊर्ध्वं भरंन्तमुदकं कुंभेनेवोदहार्यम्।
पश्यंन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनंसा विदुः १४

अर्थ-(उदहार्यं उदकं) स्वीकारने योग्य जल (कुंभेन) घड़े से (ऊर्ध्वं भरन्तं इव) ऊपर भरने वाले के समान (सर्वे) सब (चक्षुषा पश्यन्ति) आंख से देखते हैं, परन्तु (सर्वे मनसा) सब मन से (न विदुः) न ही जानते।

[जिस प्रकार घड़े से पानी भरने वाला नौकर पानी का बोझ उठाता हुआ पानी का स्वाद नहीं लेता, उसी प्रकार सब लोग देखते हुए भी वास्तव में समझते नहीं; आंख से देखते हुए भी लोग मन से समझते नहीं। सृष्टि के अंदर इतना चमत्कार होरहा है। उस को मनुष्य प्रतिदिन देखते हैं, परन्तु वह चमत्कार कैसा होरहा है। यह बात समझते नहीं, यह कितना आश्चर्य है ?]।

४७ श्रेष्ठ और हीन संग का परिणाम (राष्ट्र भृत्यों का बलिदान)।

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते ।
महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति ॥ १५ ॥

अर्थ-(पूर्णेन) पूर्ण के साथ रहने से (दूरे वसति) दूर तक स्थिर रहता है परन्तु (ऊनेन) अल्प के साथ रहने से (दूरे हीयते) दूर तक हीन होता है। जो (भुवनस्य मध्ये) जगत् के मध्य में (महद् यक्षं) बड़ा पूज्य है, (तस्मै) उस के लिए (राष्ट्रभृतः) राष्ट्र सेवक (बलिं हरन्ति) अर्पण करते हैं।

[पूर्ण नाम परमेश्वर का है और विश्व का भी है, सब स्थान में पूर्ण है और सब शुभ गुणों से पूर्ण है; इसलिये उस ईश्वर को पूर्ण कहते हैं। पवित्र, उच्च के साथ रहने से उन्नति और अवनति हीन के साथ रहने से होती है। तेजस्वी श्रेष्ठों की ही संगति करनी चाहिए। जो पूर्ण-विद्वान, पूर्ण-ज्ञानी पूर्ण-शूर पूर्ण-सज्जन हैं; उन के साथ ही रहने से उन्नति है। हीनों के साथ मिलाने से अवनति होती है।

इस मंत्र में "वसति" शब्द "वस्" धातु से बना है। इस धातु का अर्थ to be straight सीधा होना, to be fixed स्थिर होना, to make firm दृढ़ होना, दृढ़ करना, to shine चमकना, प्रकाशित होना, to love प्रेम करना है। "दूरे" शब्द का अर्थ "दूर तक बहुत अत्यंत" ऐसा है।

"पूर्णेन दूरे वसति" इस वाक्य का अर्थ पूर्ण के साथ होने से बहुत सीधा होता है, बहुत स्थिर होता है, बहुत दृढ़ होता है, बहुत बलवान होता है, बहुत तेजस्वी होता है, बहुत प्रेमयुक्त होता है, ऐसा बनता है। सामाजिक जीवन में भी पूर्ण विद्वान के साथ रहने से जीवन का बहुत सुधार होता है। बड़े के साथ रहने से बड़ा बनता है। शुद्ध के साथ रहने से शुद्ध बनता है। यह सिद्धांत लक्ष्य में रखकर मनुष्य को व्यवहार करना चाहिए।

"ऊनेन दूरे हीयते" इस वाक्य का अर्थ "न्यून के साथ रहने से बहुत गिरता है" ऐसा है। हीन दुष्ट नीच मनुष्य के सोबत से मनुष्य नीच, हीन दुष्ट बनता है। ऊन शब्द का अर्थ अवश्यमेव प्रकाति करना चाहिए, ऐसी कोई आवश्यकता नहीं। "पूर्णमदः पूर्णमिदं" इस मंत्र में परमेश्वर भी पूर्ण है और विश्व भी पूर्ण है, ऐसा कहा है। इस मंत्र का अर्थ यहां देखना चाहिए। (देखिये ईशोपनिषद् का स्वाध्याय शांति मंत्र विवरण)।

हीन के साथ अपना संबंध करना नहीं चाहिए, परन्तु सदा पूर्ण के साथ ही संबंध रखना चाहिए। पवित्र के साथ रहकर अपने आप को पवित्र बनाने वाले राष्ट्र सेवक बड़े पूज्य ईश्वर की सेवा के लिये अपने आप को अर्पण करते हैं। आत्म-यज्ञ करते हैं। अपना ही बली देते हैं। जनता के उन्नति के लिये अपना आत्म-यज्ञ करते हैं।

४८ सब से श्रेष्ठ शक्ति।

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्रं च गच्छंति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किंचन १६॥

अर्थ-(यतः) जिस से (सूर्यः उदेति) सूर्य उगता है (यत्र च) और जिस में (अस्तं गच्छति) अस्त को जाता है। (तद् एव) वही (ज्येष्ठं) श्रेष्ठ है, ऐसा (अहं मन्ये) मैं मानता हूं। (किंचन) कोई भी (तद् उ न अत्येति) उस का उल्लंघन नहीं करता है।

[सूर्य को चलाने वाली शक्ति ही सब से श्रेष्ठ है। उस से बढ़कर कोई शक्ति नहीं है]।

४९ आदित्य, अग्नि और हंस।

ये अर्वाङ् मध्यं उत वा पुराणं वेदं विद्वांस-
मभितो वदन्ति। आदित्यमेव ते परि वद-
न्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम्॥१७॥

अर्थ-(ये) जो (अर्वाङ्) अब के (मध्ये) बीच के (उत वा पुराणं) और पुराणे (वेदं विद्वांसं) ज्ञानी विद्वान् की (अभितः वदन्ति) सब प्रकार से प्रशंसा करते हैं, (ते) वे (सर्वे) सब (आदित्यं एव) आदित्य, (द्वितीयं अग्निं) दूसरा अग्नि (च त्रिवृतं हंसं) और तीनों से घेरे हुए हंस के (परिवदन्ति) गुण गाते हैं।

[जो सब काल के लोक ज्ञानी विद्वान की स्तुति करते हैं वे आदित्य, अग्नि और हंस इन तीनों की ही स्तुति करते हैं। "त्रिवृत हंस" जीवात्मा होता है; क्योंकि वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण ऐसे तीन देहों से आवृत हुआ हुआ है। हंस नामही जीव का है। हंस नाम प्राण का भी है। अग्नि शब्द भौतिक अग्नि की लक्षणा से प्रवृत्ति का बोधक है और आदित्य सब का आदान करने वाले परमेश्वर का बोधक है। वेद वेत्ता इन तीनों की ही स्तुति करते हैं]।

५० स्वर्ग को जाने वाला हंस।

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्। स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा॥ १८॥

अर्थ-(सहस्राह्ण्यं) सब काल (स्वर्ग पततः) स्वर्ग को जाने वाले (हरेः अस्य हंसस्य) हरणशील इस हंस के (पक्षौ) पंख (वियतौ) विशेष प्रकार से सजे हुए हैं। (स सर्वान् देवान्) वह सब देवों को (उरसि उपदद्य) छाती पर धर कर (विश्वा भुवनानि) सब जगत् (सं पश्यन्) देखता हुआ (याति) जाता है।

५१ सत्य, ब्रह्म और प्राण।

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् विपश्यति। प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिन् ज्येष्ठमधिश्रितम्॥ १९॥

अर्थ-(सत्येन ऊर्ध्वः तपति) सत्य से ऊंचा तपता है। (ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति) ज्ञान से नीचे देखता है। (प्राणेन तिर्यङ् प्राणाति) प्राण से तिरछा श्वास लेता है. (यस्मिन्) जिस में (ज्येष्ठं) श्रेष्ठ ब्रह्म (अधिश्रितं) आश्रित हुआ है।

५२ दो अरणी।

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु।
स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥ २० ॥

अर्थ-(यः वै ते अरणी) जो निश्चय से दो अरणी (विद्यात्) जानता है, (याभ्यां वसु निर्मथ्यते) जिन से धन मन्थन किया जाता है। (स विद्वान्) वह ज्ञानी (ज्येष्ठं मन्येत) श्रेष्ठ को जानेगा (स महद् ब्राह्मणं) वह बड़े ब्रह्म को (विद्यात्) समझेगा।

[गुरु और विद्या ये दो अरणी हैं। इनका घर्षण करने से ज्ञान धन प्राप्त होता है। जिस से ईश्वर जाना जाता है]।

मंत्र १८ में "सहस्र-अह्णय स्वर्ग" का वर्णन आया है। "सहस्र" शब्द "अनंत, सब, संपूर्ण" ऐसा अर्थ बताता है। "सर्वं वै सहस्रं" ऐसा शतपथ में कहा है। "अहन्" शब्द

"दिन, प्रकाश" का वाचक है। "अ-हन्" अर्थात् "न त्यागने योग्य" ऐसा इस शब्द का मूल अर्थ है। सहस्र गुण न त्यागने योग्य अर्थात् सर्वदा स्वीकारने के लिये योग्य स्वर्ग है। स्वर्ग प्रकाशमय लोक का नाम है। आत्मा का प्रकाश, आत्म-बुद्धि का स्वातंत्र्य स्वर्ग है। इस स्वर्ग में हंस अर्थात् पूर्व मंत्रोक्त जीव जाता है। आत्मा का केवल बुद्धि के साथ स्वतंत्रता से रहना स्वर्ग में जाना है। इस हंस के ज्ञान विज्ञान-रूपी दो पंख बड़े सुंदर हैं। इन्हीं पंखों से सुंदर बना हुआ जीव-रूपी हंस आनंद से स्वर्ग में पहुंचता है। सब दिव्य शक्तियों को अपनी छाती पर धरकर सब भुवनों का निरीक्षण करता हुआ संचार करता है। यही स्वर्गवास की स्वतंत्रता है। भूमि पर परतंत्र जीव रहता है, इसलिये वह स्वेच्छा से सर्वत्र संचार नहीं कर सकता।

मंत्र १९ में सत्य, ब्रह्म और प्राण इन तीन शक्तियों का वर्णन है। सत्य से बल बढ़ता है। इसलिये सत्यनिष्ठ पुरुष ऊंचा होकर तेज से प्रकाशित होता है। निडर होकर सब कार्य करता है [illegible]ान से मन में नम्रता आती है। सब घमंड ज्ञान के कारण नाश होती है और जैसा ज्ञान बढ़ता है, वैसा मनुष्य नम्र होता जाता है। इस प्रकार सत्य से बल और ज्ञान से नम्रता बढ़ती है। प्राण-शक्ति से जीवन की वृद्धि होती है। इसलिये इन तीन शक्तियों को धारण करना मनुष्य के लिये योग्य है।

२०वें मंत्र में वसु शब्द आया है। जिस से मनुष्य का निवास अच्छी प्रकार होता है, वह वसु है। यश पूर्वक निवास के सब साधन वसु शब्द में आते हैं। ये निवास साधन गुरु और विद्या से प्राप्त होते हैं। गुरु और विद्या का सच्चा सेवक ज्येष्ठ और श्रेष्ठ ब्रह्म को जानता है। अर्थात् विद्या के बिना उन की प्राप्ति नहीं हो सकती।

५३ सनातन-तत्त्व।

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः २३

अर्थ–(एनं सनातनं आहुः) इस को सनातन कहते हैं। (उत अद्य) और आज (पुनः नवः स्यात) फिर नया होगा। (अन्यः अन्यस्य) एक दूसरे के (रूपयोः) रूप से (अहोरात्रे) दिन और रात (प्रजायेते) बनते हैं।

[ब्रह्म सनातन है। उस का कभी नाश नहीं होता है। जो उसे प्राप्त करता है, वह उसी दिन नया सा प्रतीत होने लगता है। अज्ञान और ज्ञान दिन और रात्रि एक दूसरे के स्वरूप के कारण होते हैं]।

५४ उसी में अनन्त का अन्तर्भाव।

शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम् । तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचते एष एतत् ॥ २४ ॥

अर्थ—सौ, हज़ार, लाख, अर्ब, अर्थात् असंख्य (स्वं) संपत्ति अथवा प्रकाश (अस्मिन्) इस में (नि-विष्टं) है। (अभिपश्यतः) सर्व-साक्षी (अस्य) इस ईश्वर का (तत् एव) वही तेज (घ्नन्ति) प्राप्त कर लेते हैं, और (तस्मात्) इसी कारण (एष देवः) यह देव (एतत् रोचते) इस को प्रकाशित करता है।

[परमेश्वर में सब प्रकार के अनंत धन रहते हैं। देखिए। ईश्वर के ये धन उपासक लोग प्राप्त करते हैं। इसीलिये कहा जाता है कि यह प्रकाशमय देव न केवल स्वयं प्रकाशमान है, परन्तु दूसरे को भी प्रकाशित करता है]।

मंत्र २३ में ईश्वर के सनातन होने का वर्णन आया है पुनर्नवा शब्द जीव का वाचक है। फिर नया होकर "पुनः-नवः") यह वारंवार जगत् में आता है। देहधारी जीव शरीर के बाल, तरुण, वृद्ध दशाओं को अनुभव करता हुआ मरने के पश्चात् फिर नया होकर कार्य करता है। जब इस

को परमेश्वर का साक्षात्कार होता है, उसी समय इस में इतनी नवीन शक्तियां आविर्भूत होती हैं कि सब इस को देख कर आश्चर्य चकित होते हैं और कहते हैं यह कल का नहीं यह अब नया ही बना है।

जिस प्रकार चंद्र कलाओं से प्रथम बढ़ता है और पश्चात् क्षीण होता है, उसी प्रकार सनातन ईश्वर से उन्नति की कलाओं को लेता हुआ बढ़ता है, और जैसा उस से विमुख होता है, वैसा ही घटता है। पूर्ण-नाश के होने पर भी नवीन चंद्र के समान परमात्म सूर्य के किरण से नवजीवन युक्त बनकर पूर्णत्व को प्राप्त कर सकता है।

इस सृष्टि में जो प्रकाश अंधकार आदि द्वन्द्व होते हैं वे एक दूसरे की स्पर्धा से, तुलना से या विरोधभाव से उत्पन्न होते हैं। "अन्यो अन्यः" शब्द भेद वाचक है। जहां समभाव हटता है, वहां ही दुजा भाव उत्पन्न होता है। समताभाव के हटने से जो विभक्त भाव के कारण मर्यादा होती है, वही द्वन्द्वों की उत्पत्ति का हेतु है।

मंत्र २४ में शत, सहस्र, अयुत, न्यर्बुद कहकर फिर असंख्य संख्या की गिनती की है। स्व शब्द अहंकार का वाचक है। आत्मभाव, धन, प्रकाश ये स्व शब्द के अर्थ हैं। प्रत्येक पदार्थ का जो पदार्थ त्व-व्यक्तित्व (individuality) है, वही स्वत्व है! इस विश्व में यह स्वत्व अनंत है, यह अनंत व्यक्तित्व एक ईश्वर के आधार पर निर्भर है। एक के आश्रय पर अनेकत्व रहा है। यह कल्पना इस मंत्र में है। सर्व

साक्षी एक है, परन्तु द्रष्टव्य संख्या से अनंत है। एक के तेज से अनंत पदार्थ प्रकाशित होरहे हैं तथा अनंत पदार्थ एक के तेज को रोक कर अंधकार भी उत्पन्न करते हैं। इसी भाव को बताने के लिये "घ्नन्ति" शब्द "प्राप्ति और नाश" का वाचक दोनों अर्थों के साथ इस मंत्र में उपयुक्त किया है।

५५ प्रिय देवता।

वालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥२५

अर्थ-(एकं) एक (बालात) केश से भी (अणीयस्कं) सूक्ष्म अणुवाली (उत एकं) और एक (न एव दृश्यते) दीखता ही नहीं। (ततः) इस में (परिष्वजीयसी) जुड़ कर रहने वाली जो (देवता मम प्रिया) देवता है, वह मुझे प्रिय है।

[बाल से सूक्ष्म अणुवाली प्रकृति है, और न दीखने वाला जीव है। इन दोनों को जोड़ने वाला देवता ही ईश्वर है। वही प्रिय है, क्योंकि वही आनंद का स्थान है]।

५६ कल्याण और अमृत ।

इयं कल्याण्य१जरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः २६॥

अर्थ–(इयं कल्याणी) यह देवता कल्याण करने वाली, (अ-जरा) बुढ्ढी न होने वाली और (मर्त्यस्य गृहे) मरने वाले के घर में (अमृता) न मरने वाली है (यस्मै) जिस के लिए यह (कृता) कार्य करती है, (सः चकार) वह कार्य करता है, कृतकार्य्य होता है और (यः शये) जो सोता है (स जजार) वह जीर्ण होता है ।

कल्याण कारक देवता परमेश्वर है । परमेश्वर सब का कल्याण करता है और वही अजर अमर है । मर्त्य मनुष्य के शरीर-रूपी घर के हृदय रूप अंतर्भाग में यह निवास करता है । जिस के लिये वह कृपा करता है, वह यशस्वी होता है, परन्तु जो सोता है अर्थात् उस से प्राङ्मुख होता है; वह जीर्ण होकर नाश को प्राप्त होता है । पूर्व मंत्र में जो "परिष्वजीयसी देवता" कही है वही देवता इस मंत्र में अभीष्ट है । ये दोनों मंत्र साथ साथ पढ़ने से बहुत अर्थ की गंभीरता प्रकट होती है । "बालात् अणीयस्क" शब्द नि-

सन्देह प्रकृति का सूचक है। अणीयस्क शब्द अणु-परमाणु वाला ऐसा अर्थ बताता है। बाल से भी बारीक अणुवाली प्रकृति है। न दीखने वाला आत्मा है। और दोनों के साथ संबंध जोड़ने वाला ईश्वर है। यही कल्याणकारी है। जो इस की कृपा का पात्र होता है, वह कृतकार्य होता है; परन्तु जो विमुख होता है वह हीन होता है।

५७ जीवात्मा का वर्णन।

त्वं स्त्री त्वं पुमा॑नसि त्वं कु॑मा॒र उ॒त वा॑ कु॒मारी। त्वं जी॒र्णो द॒ण्डेन॑ वञ्च॒सि त्वं जा॒तो भ॑वसि वि॒श्वतो॑ मुखः ॥ १७ ॥

अर्थ-(त्वं स्त्री) तू स्त्री और (त्वं पुमान् असि) तू पुरुष है, (त्वं कुमारः) तू लड़का (उत वा कुमारी) अथवा कुमारी है. (त्वं) तू (जीर्णः) बुड्ढा होकर (दण्डेन वञ्चसि) सोटी लेकर चलता है। (त्वं विश्वतो मुखः) तू सब ओर मुख रख कर (जातः भवसि) उत्पन्न होता है।

[जीवात्मा स्त्री, पुरुष, लड़का लड़की, जवान बुड्ढा अर्थात् इन सब अवस्थाओं में उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। परन्तु वह इन अवस्थाओं से भिन्न है, यह मंत्र पुनर्जन्मवाद सिद्ध करता है। क्योंकि एक शरीरधारी एक जन्म में स्त्री और पुरुष नहीं बन सकता]।

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः। एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः॥ २८॥

अर्थ—(एषां उत पिता) इनका निश्चय से पिता, (उत वा एषां पुत्रः) अथवा इनका पुत्र (उत एषां ज्येष्ठः) अथवा इन में श्रेष्ठ (उत वा कनिष्ठः) अथवा कनिष्ठ ऐसा (एकः ह देवः) एक ही देव (मनसि प्रविष्ठः) मन में घुसा हुआ है (प्रथमः जातः) जो पहिले उत्पन्न हुआ था (स उ) वही अब (गर्भ अन्तः) गर्भ के अंदर है।

[जीवात्मा किसी का पुत्र, किसी का पिता, किसी का बड़ा भाई, किसी का छोटा भाई प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में वैसा नहीं है। वह एक ही मन में प्रविष्ट हुआ हुआ है। एक समय जन्म को प्राप्त होने पर भी फिर गर्भ में आता है। यह मंत्र पुनर्जन्म वाद को बताता है]।

स्त्री पुरुष, कुमार कुमारी, जवान बुड्ढा, यह अवस्थायें शरीर की हैं, परन्तु शरीर के साथ रहने वाले जीवात्मा पर ये अवस्थायें कल्पित की जाती हैं; जिस से उसी को स्त्री पुरुष कहने लगते हैं। एक ही जन्म में स्त्री का पुरुष नहीं हो सकता, न पुरुष की स्त्री बनती है। इसलिये "तू

स्त्री है और तू ही पुरुष है" यह उक्त मन्त्र का कथन अनेक जन्मों के विषय में संगत हो सकता है। तू एक जन्म में पुरुष होता है और दूसरे जन्म में स्त्री होता है, ऐसा ही उक्त मन्त्र का अर्थ समझना चाहिए। ऐसा अर्थ लेने से निःसन्देह पुनर्जन्म की वेद से सिद्धि होती है।

मन के अंदर प्रविष्ट हुआ हुआ जीवात्मा ही शरीर के अंदर उक्त प्रकार से आता है। वह एक समय किसी का पिता बनता है तो किसी समय किसी का पुत्र बनता है। किसी समय बड़ा भाई बनता है तो दूसरे किसी समय छोटा भाई बनता है। इसी प्रकार माता, पुत्री, बड़ी बहिन और छोटी बहिन बनता है। जो एक समय जन्म लेकर आता है, वही फिर फिर गर्भ में आता है।

"विश्वतो मुखः" शब्द का अर्थ "प्रायः सब प्रकार के मूंह वाला" है ऐसा भी हो सकता है। ऐसा अर्थ लेने पर जैसा जीव बाल तरुण आदि अवस्थाओं में जाता हुआ भी उन से भिन्न है, वैसा ही नाना-योनियों में जाने से नाना प्रकार के मुखों वाला बनने पर भी उन योनियों से वह भिन्न है, ऐसा भाव निष्पन्न होता है।

५८ पूर्ण की पूर्णता।

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते॥२९॥

अर्थ-(पूर्णात्) पूर्ण से (पूर्ण) पूर्ण का (उदचति) उदय होता है। (पूर्ण पूर्णेन) पूर्ण से पूर्ण (सिच्यते) सींचा जाता है। (उतो तदद्य विद्याम) निश्चय से वह आज हम जानेंगे कि (यतः यत्) जहां से वह (परिषिच्यते) चारों ओर से सींचा जाता है।

["पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते ॥ पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा वशिष्यते।" यह उपनिषदों की शान्ति का मंत्र इसी मंत्र का प्रतिध्वनि प्रतीत होता है। पूर्ण परमेश्वर से पूर्ण ज्ञान, पूर्ण जगत् का उदय होता है पूर्णज्ञान पूर्ण परमेश्वर अर्पण करता है। जहां से ज्ञान का और सृष्टि का स्रोत चलता है, उस को आज ही जानना है। ज्ञान के लिये जो प्रयत्न करना है, वह कल पर न रखिये। इस मंत्र का वर्णन ईशोपनिषद् के स्वाध्याय में आया है। उस को अवश्य यहां देखिए]।

५९ परमेश्वर का काव्य।

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥३२

अर्थ-ईश्वर (अन्ति सन्तं) पास रहने वाले उपासक को (न जहाति) छोड़ता नहीं। जीव (अन्ति सन्तं)

पास रहने वाले ईश्वर को भी (न पश्यति) देखता नहीं। (देवस्य काव्यं) देव का काव्य (पश्य) देखो। वह देव (न ममार) मरता नहीं और (न जीर्यति) न बुड्ढा होता है।

[जो जीव उपासना द्वारा ईश्वर के पास होता है उसे वह छोड़ता नहीं, परन्तु जो जीव भक्ति हीन है वह उस को देखता ही नहीं। परमेश्वर सर्व-व्यापक होने से सब उस के पास ही हैं, परन्तु सब मुक्ति को प्राप्त नहीं होते, इसलिये जानना चाहिए कि पास होने का मतलब यहां ज्ञान और भक्ति द्वारा पास होना है। यह ईश्वर न मरता है और न वृद्ध होता है। वह अजर अमर है। परमेश्वर का काव्य हर एक को देखना चाहिए। परमेश्वर का काव्य ही वेद है]।

६० अपूर्व की प्रेरणा।

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वंदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्॥३३

अर्थ-(अ-पूर्वेण) जिस को पूर्व अर्थात् भूतकाल नहीं है, ऐसे अपूर्व ईश्वर ने(इषिताः) प्रेरित (वाचः) वाणी, ज्ञान, शब्द है। (ताः) वे शब्द (यथायथं)

यथायोग्य ज्ञान (वदन्ति) कहते हैं। (वदन्तीः) बोलने वाले वे शब्द (यत्र गच्छति) जहां जाते हैं वहां (तत् महत्) वह बड़ा (ब्राह्मणं) ब्रह्म है, ऐसा (आहुः) वे कहते हैं।

[अ-पूर्व=जिस के पूर्व कोई भी नहीं था अर्थात् जो स्वयंभू अनादि है। ऐसे ईश्वर ने ज्ञान का और वाणी का प्रचार किया। वही ज्ञान सत्य बताता है और जहां जाता है वहां उसी ब्रह्म की पुकार करता है]।

६१ आपों का फूल।

यत्रं दे॒वाश्चं मनु॒ष्यांश्चा॒रा नाभा॑विव श्रि॒ताः।
अ॒पां त्वा॑ पु॒ष्पं पृ॑च्छामि॒ यत्र॒ तन्मा॒यया॑ हि॒तम्॥

अर्थ-(आरा नाभौ इव) जिस प्रकार चक्र के आरे नाभि में लगे रहते हैं, उसी प्रकार (यत्र) जहां (देवाः मनुष्याः च) देव और मनुष्य (श्रिताः) आश्रित हैं (तत्) वह (अपां पुष्पं) प्रकृति या कर्मों का फूल (यत्र) जहां (मायया हितं) कुशलता से स्थापित है, वह स्थान (त्वा पृच्छामि) तुम को पूछता हूं।

["आपो नारा इति प्रोक्ता नारा वै नरसूनवः" आप शब्द का अर्थ प्रकृति परमाणु, कर्म, जल ऐसा है। फूल के अंदर

फल उत्पन्न करने की शक्ति रहती है। प्रकृति का फूल वह है कि जिस का फल जीव खाता है। देव और मनुष्य जिस का उपभोग लेते हैं, वह संसार रूप फल इसी फूल को लगता है। कर्मों का फल होता है, परन्तु उन का फूल नहीं दीखता। वह कर्मों का फूल किस स्थान पर माया से छिपाया है यह इस मंत्र में प्रश्न है]।

मनुष्य की वाणी-भाषा-शब्द संहति कहां से आगई इस का विचार विचारे विद्वान कई प्रकार से करते हैं। विकासवादी कहते हैं कि मनुष्य ने ज्ञान विकास करके भाषा बनाई। कई कहते हैं कि पशुपाक्षियों के शब्द सुन कर उन को जोड़ जोड़ कर मनुष्यों ने अपनी भाषा बनाई। इन विचारों के साथ वेद का विचार देखने योग्य है। "अपूर्वेण इषिता वाचः" सनातन अनादि परमेश्वर ने वाणी की प्रेरणा की है। यही सनातन वैदिक धर्म का सिद्धांत है।

चौबीसवें मंत्र में प्रश्न पूछा है कि "जिस आधार से देव और मनुष्य रहते हैं और जहां माया से रखा हुआ प्रकृति का फूल रहता है, वह स्थान कहां है?" "अपां पुष्पं" का अर्थ "प्रकृति का फूल" है प्रकृति का फूल यह संसार अथवा सृष्टि है। माया के द्वारा वह व्यवस्था से रखा है। माया उस को कहते हैं कि जिस से किसी का वास्तव रूप छिपाकर दूसरा बताया जाता है। जैसा जीवात्मा का वास्तव रूप भूल कर शरीर को ही " मैं " समझना। यही बात इस संसार में है। इसी का फल जीव खाता है। "द्वा-

सुपर्णा" मंत्र में "एक वृक्ष पर रहने वाले दो पक्षी हैं। एक स्वादु फल खाता है और दूसरा प्रकाश देता है" ऐसा वर्णन आता है। स्वादु फल इसी संसार वृक्ष का है। वहां जिस फल का वर्णन है वह फल जिस फूल को लगता है उस फूल का उल्लेख इस मंत्र में है। जिस आधार पर देव और मनुष्य रहते हैं उसी आधार पर यह फूल भी रहता है। इसी को "आकाश वल्ली" कहते। कल्प वृक्ष यही है। इस फूल के आधार को जानना चाहिए। फल में अथवा फूल में ही रमना अच्छा नहीं। जिस के कारण यह मीठा फल और सुगंधित फूल पैदा होता है उस महान शक्ति को ढूंढना चाहिए।

६२ प्रेरक देव।

येभिर्वात इषितः प्रवाति ये ददन्ते पञ्च
दिशः सध्रीचीः। य आहुतिमत्यमन्यन्त
देवा अपां नेतारः कतमे त आसन् ॥३५॥

अर्थ-(येभिः इषितः) जिन से प्रेरा हुआ (वातः प्रवाति) वायु चलता है। (ये) जो (सध्रीचीः) मिले हुए (पंच दिशः) पांच दिशायें, दिशाओं में रहे हुए सब पदार्थ (ददन्ते) देते हैं। (ये देवाः) जो

देव (आहुतिं) हवन को (अति-अमन्यन्त*) अत्यन्त मानते हैं (ते कतमे) वे कौन (अपां नेतारः) प्रकृति के या कर्मों के नेता (आसन्) हैं ।

[जिन की प्रेरणा से वायु चलता है और सब दिशाओं के कार्य होते हैं और जिन की प्रसन्नता हवन से होती है वे कौन हैं] ।

इमामेषां पृथिवीं वस्त एकोऽन्तरिक्षं पर्येको बभूव । दिवमेषां ददते यो विधर्ता विश्वा आशाः प्रति रक्षन्त्येके ॥ ३६ ॥

अर्थ-(एषां) इन में से (इमां पृथिवीं) इस पृथिवी के ऊपर (एकः) एक (वस्ते) रहता है । (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष में (एकः) एक (परिबभूव) व्यापता है । (एषां) इन में से (दिवं) द्युलोक को (यः) जो एक (विधर्त्य) धारण कर्ता (ददतां) आधार देता है । (एके) अन्य देव (विश्वाः आशाः) सब दिशाएं (प्रतिरक्षन्ति) रक्षण करते हैं ।

---

* हवन की आवश्यकता इस मंत्र में अच्छी प्रकार वर्णन की है । ये देवगण हवन को अत्यन्त मान्यता देते हैं ।

[अनेक देवों में से तीन देव क्रम से पृथिवी, अंतरिक्ष और द्युलोक की रक्षा करते हैं। शेष अन्य दिशाओं के प्रबंध में लगे है। पृथ्वी पर अग्नि, अंतरिक्ष में वायु और द्युलोक में सूर्य है अन्य इन्द्र मरुत आदि देवगण अन्य स्थानों में हैं।

६३ सूत्र का सूत्र।

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत् ॥ ३७ ॥

अर्थ–(यस्मिन्) जिस में (इमाः प्रजा) यह प्रजायें (ओताः) पोई हुई हैं उस (विततं सूत्रं) तने हुए सूत्र-धागों को-(यः विद्यात) जो जानता है और जो (सूत्रस्य सूत्रं) धागे का धागा (यः विद्यात) जानता है (सः) वह (महत ब्राह्मणं) बड़ा ब्रह्म को (विद्यात) जानता है ॥

[परमात्मा, सूत्रात्मा और सृष्टि ये तीन पदार्थ हैं। सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थ मणिरूप हैं, सूत्रात्मा धागा है और परमात्मा उस धागे का भी धागा है।

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः । सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥ ३८ ॥

अर्थ-(अहं) मैं (विततं सूत्रं) तना हुआ धागा (वेद) जानता हूं । (यस्मिन) जिस में (इमाः प्रजाः ओताः) यह सृष्टि परोई गई है वह (सूत्रस्य सूत्रं) धागे का धागा (अहं वेद) मैं जानता हूं । (अथो) और (यद् महत) जो बड़ा (ब्राह्मणं) ब्रह्म है वह भी मैं जानता हूं ।

(पूर्व मन्त्र का कथन ही इस मन्त्र में कहा है । केवल इतना इस में विशेष कहा है, कि मनुष्य इनको प्रत्यक्षवत् जान सकता है बारीक बारीक धागों को एकत्रित करके बड़ा सूत्र बनता है । और सूत्र में मणि परोये जाते हैं । मणि में सूत्र और सूत्र में बारीक धागे होते हैं । इसी प्रकार सृष्टि, सूत्रात्मा और परमात्मा इनका परस्पर संबंध हैं । सूत्रात्मा में जो सूत्र-धागे-की कल्पना है वही इस मंत्र में है) ।

६४ कमल में रहने वाला यक्ष ।

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

अर्थ–(त्रिभिः गुणेभिः) तीन रस्सियों-गुणों-से (आवृतं) घेरा हुआ (नवद्वारं) नौ द्वारों वाला (पुण्डरीकं) कमल है (तस्मिन्) उस में (यत् आत्मन्वत्) जो आत्मावाला (यक्षं) पूज्य है (तद् वै) उसी को (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी (विदुः) जानते हैं ।

[सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से घिरे हुए शरीर रूपी नौ दरवाज़ों वाले तालाब में हृदय कमल है । उस में जो उपासना योग्य आत्मा है उसी को ब्रह्मज्ञानी लोक जानते हैं] ।

६५ ज्ञाता मृत्यु से डरता नहीं ।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो
न कुतश्चनोनः । तमेव विद्वान् न बिभाय
मृत्यो रात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ ४४ ॥

अर्थ-(अ-कामः) निरिच्छ (धीरः) धैर्य वाला (अमृतः) अमर (स्वयं-भूः) स्वयं सिद्ध (रसेन तृप्तः) तत्व से तृप्त (कुतश्चन न ऊनः) कहीं से भी न्यून नहीं ऐसे (धीरं) धैर्य वाले (अजरं) वृद्धावस्था रहित (युवानं) जवान (तं आत्मानं एव) उसी आत्मा को (विद्वान्) जानने वाला (मृत्योः) मृत्यु से (न विभाय) नहीं डरता है।

[परमेश्वर निष्काम, धीर, अमर, स्वयंभू तृप्त, सर्वव्यापक, ज्ञानी, अजर, जवान इत्यादि गुणों से युक्त है। वहीं पूर्वोक्त तीन रसियों से घिरे हुए कमल में निवास करता है। वही यक्ष, यजनीय अर्थात् पूज्य है। वही उपास्य है। वह कहीं से भी न्यून नहीं है। सब दृष्टि से परिपूर्ण है। परिपूर्ण की उपासना करने से ही उन्नति होती है यह भाव "दूर पूर्णेन वसति" इस मंत्र में कहा है। इसी सूक्त का मंत्र १५ पृ० १०० देखिए]।

६६ इन्द्रजाल सूक्त।

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः

तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥५॥

(अथर्व० कां ८ सू० ८)

अर्थ-(अन्तरिक्षं) यह अन्तरिक्ष, अन्तराल, (जालं) जाल (आसीत्) था। (जालदण्डाः) जाल के खम्भे (मही दिशः) बड़ी दिशायें थीं। (शक्रः) इन्द्र (तेन) उस जाल के द्वारा (अभिधाय) हमला करके (दस्यूनां सेनां) शत्रु की सेना को (अपावपत्) भगाता है।

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः।
तेन शत्रूनभि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥ ६ ॥

अर्थ-(वाजिनीवतः) सैन्यवाले (बृहतः शक्रस्य) बड़े इन्द्र का (बृहत् हि जालं) बड़ा ही जाल है। वह (तेन) उस जाल से (सर्वान् शत्रून्) सब शत्रुओं को (अभिन्युब्ज) सब ओर से घेरता है। (यथा) जैसा (एषां कतमश्चन) इन में से कोई एक भी न मुच्यातै) छूटता नहीं।

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान्।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥ ८ ॥

अर्थ-(अयं लोकः) यह लोक (महतः शक्रस्य) बड़े इन्द्र का (महान् जालं) बड़ा जाला (आसीत्) था। हे (इन्द्र) इन्द्र, (अहं) मैं (तेन तमसा जालेन) उस अन्धकारमय जाले से (अमून् सर्वान्) इन सब दुष्टों को (अभिदधामि) सब ओर से घेरूंगा।

[जगत् परमेश्वर का जाल है। इस जाल के अंदर दुष्ट मनुष्य फंसता है। परन्तु विद्वानों को इस जाल में फंसना नहीं चाहिए]।

पशु-पक्षियों को तथा मछलियों को पकड़ने के लिए जाल फैलाते हैं। खम्भे चारों ओर गाड़ कर उन पर जाल को तना देते हैं। जो आमिष में लुब्ध होता है, वही इस जाल में फंसता है, परन्तु जो आमिष के लोभ से दूर रहता है वह स्वतंत्रता से आराम में रहता है। ठीक यही बात इस इंद्र के जाल के विषय में जाननी उचित है। भोग में फंसने वालों को पकड़ने के लिये इन्द्र ने यह जगत् रूपी जाल फैलाया है। जो भोग का जीवन व्यतीत करते हैं उन्हीं को इस में बांधा जाता है। परन्तु जो निष्काम वृत्ति से सब व्यवहार करते हैं उन को यह जगत् का जाल किसी प्रकार भी नहीं बान्धता।

दस्यू की सेना को पकड़ने और घेरने के लिये यह जाल हैं। दस्यु उस को कहते हैं कि जो लालच में फंसता

है और अपनी तृप्ति के लिये दूसरे को नाश करता है। सभ्य सदाचारी पुरुषों का नाम आर्य है। आर्यों को बांधने के लिये यह जाल नहीं है। परन्तु दस्युओं को पकड़ने के लिये है। यह बात ध्यान में धर कर अपने अंदर जो दस्युपन हो, उस को दूर करके अपने में आर्यपन बाढ़ने का यत्न प्रत्येक को करना चाहिए।

छठे मंत्र में कहा है कि कोई दुष्ट मनुष्य बच नहीं सकता। यही बात है कि जो सब को ध्यान में रखनी उचित है। आर्य पकड़ा नहीं जाता और दस्यु बच नहीं सकता ऐसा यह जाल है।

आठवें मंत्र में जाल का "तमस्" विशेषण दिया है। तमस् शब्द का अर्थ अज्ञान, अंधेरा, तमोगुण प्रधान प्रकृति या प्राकृतिक पदार्थ ऐसा है। अर्थात् अज्ञान के साथ इस जाल का संबंध है और अज्ञान के साथ लोभ, मोह आदि हीन मनोवृत्तियां सदा लगी रहती हैं।

इन्द्र शब्द का अर्थ परमैश्वर्य युक्त परमेश्वर, शक्र शब्द का अर्थ सर्व-शक्तिमान् समर्थ ईश्वर है। ये तीनों मंत्र बहुत विचार करने योग्य हैं।

६७ देव-रथ।

दिश॒श्चत॑स्रोऽश्वत॒र्यो॑ देवर॒थस्य॑ पु॒रोडाशाः॑
श॒फा अ॒न्तरि॑क्षमु॒द्धिः। द्यावा॑पृथि॒वी पक्ष॑सी

ऋतवोभीशवोऽन्तर्देशाः किंकरा वाक् परिरथ्यम् ॥ २२ ॥

अर्थ-(देवरथस्य) देव के रथ के (चतस्रः दिशः) चार दिशायें (अश्वतर्यः) घोड़ियां हैं । (पुरोडाशाः) पुरोडाश (शफाः) खुर हैं । (अन्तरिक्षं) अन्तकाल (उद्धिः) धुरा है । (द्यावा पृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक (पक्षसी) दाईं और बाईं बगल है । (ऋतवः) ऋतु (अभीशवः) लगाम है, (अन्तर्देशाः) बीच में के जो देश हैं, वे (किंकराः) गाड़ी के अन्य भाग हैं, (वाक्) वाणी (परिरथ्यम्) रथ के सब शेष भाग हैं ॥

६८ सव्य-साक्षी ।

संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम् । इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः २३

अर्थ-(संवत्सरः) वर्ष (रथः) रथ है (परिवत्सरः) पूर्ण वर्ष (रथोपस्थः) रथ के आगे का भाग है (विराट् इषा) विराट् ही इषा है (अग्नि) अग्नि

रथ का मुख है, (इन्द्रः) इन्द्र जीव (सव्यष्ठा) सव्यसाची है और चन्द्रमा मन सारथी है।

६६ स्वाहा और दुराहा, विजय और पराजय।

इतो जयेतो वि जय संजय जय स्वाहा।
इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः। नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि।२४।

अर्थ-(इतः जय) यहां से जय करो (इतः विजय) यहां से विजय करो (संजय) मिल कर जय करो (जय) जय करो (स्वाहा) स्वार्थ त्याग करो। (इमे जयन्तु) इन धार्मिकों का विजय हो। (अमी परा जयन्तु) उन अधार्मिकों का पराजय हो। (एभ्यः स्वाहा) इनके लिये स्वार्थ त्याग-परोपकार करना चाहिए (अमीभ्यः दुराहा) उनके लिये दुष्ट त्यागबुरा शब्द हो। (नीललोहितेन) एक कल्प की अवधी से (अमून्) उन को (अभि अवतनोमि) सब प्रकार से खुला करता हूं।

[इन मंत्रों में देवों के रथ का वर्णन है। सब विश्व तथा सब वर्ष ही देवों का रथ है। सव्यसाची सूर्य, इंद्र अथवा अर्जुन यही रथी हैं। चन्द्रमा, घनश्याम मेघ अथवा कृष्ण उस का सारथी है। जय, विजय, संजय ये सूचक शब्द हैं। स्वाहा और दुराहा ये दो शब्द इस मंत्र में आये हैं उन के अर्थ नीचे दिये हैं:—

स्वाहा	दुराहा
(१) स्व+आ+हा=अपने स्वत्व का परोपकार में त्याग दान।	(१) दुः+आ+हा—दूसरे की दुष्टता के लिये त्याग।
(२) सु+आ+हा=उत्तमता के लिये पूर्णता से दान।	(२) दुः—दुष्टता से दिया हुआ दान।
(३) सु+आह=उत्तम बात चीत, उत्तम भाषण।	(३) दुः+आह+बुरा भाषण बुरे शब्द।
(४) सु+आ+हा=उत्तम पदार्थ का पूर्णता से दान।	(४) दुः+आ+हा=बुरे पदार्थ का पूर्णता से त्याग।

"स्वाहा" के साथ "दुराहा" का प्रयोग इन्हीं मंत्रों में आया है। "इमे" शब्द मित्रों के लिये और "अमू" शब्द शत्रु के लिये आया है। इनका वास्तव में अर्थ "ये और वे" ऐसा है।

उक्त तीन मंत्रों में देवरथ का वर्णन है। संवत्सर देवों का रथ इसलिये है कि संवत्सर-रूपी काल का अच्छा

उपयोग करने से देवत्व की प्राप्ति होती है। इस वर्ष-रूपी रथ में मन-बुद्धि के सारथ्य से जीवात्मा को बैठना है। जो इस भाव से सब समय का ठीक ठीक उपयोग करता है वह जय प्राप्त कर सकता है। जय, विजय, संजय ये विविध प्रकार के जय हैं। उन सब की प्राप्ति उसी मनुष्य को हो सकती है कि, जो इस काल-रथ का उपयोग अच्छा कर सकता है। जो काल को व्यर्थ खोता है, उस के पास विजय नहीं आ सकता।

विजय के लिये त्याग की जरूरत है। त्याग, दान, स्वार्थ त्याग, परोपकार, आत्मयज्ञ, सर्वस्वदान ये सब शब्द उसी भाव को बताते हैं, जो स्वाहा शब्द से प्रकट होता है। "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः ॥ यजु० ४०। १ ॥" "इसलिये त्याग-भाव से भोग कीजिये" निष्काम भाव से कर्म करने वाले ही विजयी होते हैं। स्वार्थी लोगों का अंत में पराजय होता है।

स्वार्थी, भोगी, सकाम करने वाले, दान न देने वाले लोगों के लिये "अ-राति" शब्द वेद में आता है। जो दान नहीं देता वह "अ-राति" है। राति शब्द दान अर्थ में है। इस प्रकार के शत्रुओं का पराजय होता है। धार्मिकों का दान स्वाहा शब्द से जाना जाता है और अधर्मिकों का "दुराहा" शब्द से जाना जाता है। दुष्ट लोग दुष्टता फैलाने के लिये दान देते हैं और उन के दान से दुष्ट भाव बढ़ते हैं। दान भी सुपात्र में करना चाहिए और ऐसे प्रकार से

करना चाहिए कि जिस का परिणाम अच्छा हो। अविचार से किया हुआ दान लाभदायक नहीं होता है। यही बात "स्वाहा और दुराहा" इन दो शब्दों के प्रयोग से बताई है। इस का अवश्य विचार होना चाहिए।

मंत्र २४ में नीललोहित शब्द से कल्पन्त का बोध होता है। कल्प का नाम नीललोहित है। दुष्टों का बंधन कल्प पर्यंत होता है, कल्प के पश्चात् फिर अपना जीवन सुधारने के लिये उन को अवसर मिलता है। यहां बंधन का तात्पर्य भोग योनियों से है। दुष्ट मनुष्य ऐसी योनियों में कल्प पर्यंत रहता है कि जहां उन्नति के कर्म करना संभव न हो। जैसी पशु पक्षियों की योनियां हैं। मनुष्य जन्म ही ऐसा है कि जहां उन्नति का उपाय हो सकता है। दुष्ट मनुष्य मरने के पश्चात् फिर मनुष्य योनि में आने तक इतनी अवधि तक जाता होगा।

मुक्ति से लौट आना भी कल्प की अवधि के पश्चात् ही होता है। सदाचारी मनुष्य मुक्ति पाकर कल्प-पर्यंत आनंद में रहता है, परन्तु दुराचारी मनुष्य हीन योनियों में जाकर कल्प-पर्यंत अज्ञानान्धकार में फंसा रहता है। इसलिये उक्त मंत्र में कहा है कि "कल्प की अवधि से मैं उन को खुला करता हूं"।

यहां इतना लिखना आवश्यक है कि " नील लोहितेन अमून् अभि अवतनोमि " इस वाक्य का अर्थ जैसा स्पष्ट होना चाहिए वैसा स्पष्ट नहीं हुआ। स्वाध्यायशील पुरुषों

को इस पर विशेष सोचना चाहिए। और अर्थ की खोज करनी चाहिए।

प्राण सूक्त।

७० प्राण का सब को आधार।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशें।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥१॥

(अथर्व० कां ११ सू० ४)

अर्थ-(यस्य वशे) जिस के आधीन (इदं सर्वं) यह सब है, उस (प्राणाय नमः) प्राण को नमस्कार है। (यः) जो प्राण (सर्वस्य ईश्वरः) सब का स्वामी है और (यस्मिन्) जिस में (सर्वं प्रतिष्ठितम्) सब कुच्छ ठहरा है।

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते॥२॥

अर्थ-हे प्राण! (क्रंदायते नमः) शब्द-रूपी तेरे लिये नमस्कार, (स्तनायित्नवे ते नमः) गरजने वाले बादल-रूपी

तेरे लिए नमस्कार, हे प्राण ! (विद्युते ते नमः) बिजुली-रूपी तुझ को नमस्कार, हे प्राण ! (वर्षते ते नमः) वर्षा-रूपी तेरे लिए नमस्कार है ।

[पूर्व मंत्र में प्राण के आधीन सब हैं, ऐसा कहा है। सब चराचर जगत् प्राणशक्ति के आश्रय रहा है । प्राण ही सब का ईश्वर है, क्योंकि प्राण के विना किसी की भी स्थिति नहीं हो सकती। कई लोक समझते हैं कि प्राणियों के शरीर में श्वास उच्छ्वास रूप जो वायु अंदर बाहर संचार करता है वही केवल प्राण है। परन्तु केवल वही प्राण नहीं, विश्व के अंदर अन्यत्र ईश्वरीय प्राणशक्ति कार्य कर रही है, यह भाव दूसरे मंत्र में है। इस दूसरे मंत्र में गर्जना, बिजुली और वृष्टि ये सब मेघों की अवस्थायें प्राणशक्ति से ही होती हैं ऐसा कहा है]।

प्राणः प्रजा अनुवस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम् ।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न १०

अर्थ-(प्राणः) (प्रजाः अनु वस्ते) सब प्रजाओं के पीछे रहता है, जैसा (प्रियं पुत्रं पिता इव) प्रिय पुत्र के पीछे पिता रहता है। (यच्च प्राणति) जो कुछ जिन्दा है (यत् च न) और जो नहीं उस (सर्वस्य) सब का (ह प्राणः ईश्वरः) निश्चय से प्राणही ईश्वर है ।

[जिस प्रकार पिता अपने प्रियपुत्र की रक्षा करने में सदा तत्पर रहता है, ठीक उसी प्रकार प्राण सब संजीव तथा निर्जीव सृष्टि की रक्षा करता है। शरीर के अंदर देखिये आंख और कान निद्रा के समय बंद रहते हैं, परन्तु प्राण सदैव अपना कार्य करता रहता है। जिस समय उस का कार्य बंद होता है उसी समय मृत्यु होता है।]

७१ प्राण से उच्च गति।

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते।
प्राणो हं सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्॥

अर्थ–(प्राणः मृत्युः) प्राण ही मृत्यु है, (प्राण तक्मा) प्राण ही महन शक्ति है। (देवाः प्राणं उपासते) सब देव-इंद्रियां प्राण की ही उपासना करते हैं। (ह) निश्चय से (प्राणः) प्राण ही (सत्यवादिनं) सत्यवादी मनुष्य को (उत्तमे लोके) उत्तम लोक में, उत्तम अवस्था में (आ दधत्) धरता है।

[प्राण के कुपित होने से मरण और व्याधि उत्पन्न होते हैं और प्राण ठीक रहने से शरीर आरोग्य रहता है। तक्मा शब्द "तक्-सहने हसने च" (सहना और हंसना) इस धातु से बना है। यह जानकर प्राणायाम द्वारा प्राण की ही सब

ज्ञानी उपासना करते हैं। सत्य-भाषण करने वाले मनुष्य को प्राण ही उत्तम लोक में पहुंचाता है। शरीर में सब (देव) इंद्रियां प्राण के आश्रय से कार्य करती हैं]।

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥

अर्थ-(प्राणः वि-राट्) प्राण ही विराट्-विविध प्रकार का तेज है (प्राणः देष्ट्री) प्राण ही मार्ग दर्शक है, (प्राणः ह सूर्यः चन्द्रमाः) प्राण ही सूर्य और चन्द्र हैं (प्राणं प्राजापतिं आहुः) प्राण को ही प्रजापति कहते हैं इसलिए (सर्वे) सब (प्राणं उपासते) प्राण की उपासना करते हैं।

[इस में ईश्वर की व्यापक प्राणशक्ति का वर्णन है। इस का शरीर में भाव लेने के समय सूर्य चंद्र से चक्षु और मन समझना उचित है।]

७२ प्राण से पुनर्जन्म।

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः॥१४

अर्थ–(गर्भे अन्तरा) गर्भ के अन्दर (पुरुषः) पुरुष-जीव-लड़का (प्राणति) प्राण लेता है और (अपानति) अपान छोड़ता है। हे प्राण ! (त्वं यदा जिन्वसि) तू जब जीवन देता है तब उस के (अथ) पश्चात् ही (स पुनः जायते) वह फिर पैदा होता है।

[इस मंत्र में "स पुनः जायते" इन शब्दों से पुनर्जन्म की कल्पना प्रतीत होती है]।

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥१५

अर्थ–(मातरिश्वानं प्राणं आहुः) वायु को प्राण कहते हैं। (वातः ह प्राणः उच्यते) वायु ही प्राण कहलाता है (प्राणः ह भूतं च भव्यं) प्राण ही भूत और भविष्य है। (प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितं) प्राण में ही सब ठहरा है।

[इस मंत्र में प्राण क्या चीज़ है यह बताया है। मातरिश्वा सूक्ष्म वायु का नाम और बात हवा का नाम प्रतीत होता है। पृथ्वी से ४५ मील तक ही हवा है, परन्तु उस के पश्चात् मातरि-श्वा अर्थात् सूक्ष्म वायु है]।

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः ।
सर्वे तस्मैं बलिं हरानमुष्मिंल्लोक उत्तमे १८

अर्थ—हे प्राण ! (ते इदं) तुम्हारा यह महत्व (यः वेद) जो जानता है । (च यस्मिन्) और जिसमें तू (प्रतिष्ठितः असि) ठहरा है, (अमुष्मिन् उत्तमे लोके) उस उत्तम लोक में (तस्मै) उस के लिए (सर्वे बलिं हरन्ति) सब बलि ले जाते हैं ।

[प्राण का महत्व जो जानता है, वह श्रेष्ठ होता है । सब लोग उस की सहायता करते हैं] ।

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः । स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः ॥ २० ॥

अर्थ—(देवतासु आभूतः) देवताओं की इन्द्रियों के बीच में रहा हुआ, (भूतः) एक बार पैदा हुआ हुआ, फिर (अन्तर गर्भः चरति) गर्भ में प्रत्येक पदार्थ के मध्य में घूमता है । (स उ पुनः जायते) वह निश्चय से फिर उत्पन्न होता है । (स पिता) वह पिता (भूतः

भव्यः भविष्यत) भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल के सब (शचीभिः) शक्तियों के साथ (पुत्रं प्रविवेश) पुत्र में प्रविष्ट हुआ।

[जीव एक बार उत्पन्न हुआ हुआ पुनः पुनः जन्म लेता है। पिता के अंदर भूत,भविष्यत्, वर्तमान काल में दृश्यमान होने वाली उद्भूत या अनुद्भूत जो जो शक्तियां होती हैं, वह सब पुत्र में प्रविष्ट होती हैं। पिता की बिमारियां पुत्र में आती हैं, इसलिये माता पिताओं को उचित है कि वे योग्य व्यवहार करके नीरोग रहें और संतान उत्पन्न करें। पिता के अच्छे गुण भी पुत्र में प्रविष्ट होते हैं]।

७३ हंस का एक पांव।

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदंग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यात्
न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन॥२१

अर्थ-(हंसः) हंस-प्राण (सलिलात् उच्चरन्) जल से ऊपर उठता हुआ (एकं पादं) एक पांव को (न उत्खिदाति) नहीं खेंचता। हे (अंग) प्रिय! (यत्

स तं) यदि वह उसे (उत्खिदेत्) खेंचेगा तो कोई भी (न एव अद्य) नहीं आज और (श्वः न स्यात्) नहीं कल होगा। (न रात्रीः) रात्रि नहीं और (न अहः स्यात्) और न दिन होगा। इसलिए प्राण का (कदाचन) कभी भी (न व्युच्छेत्) उच्छेद न हो।

[हंस प्राण का नाम है। प्राण के आयाम के साथ उस को वश करना चाहिए। प्राण जल के साथ रहता है। जिस प्रकार बगुला पानी में एक पांव रखकर खड़ा रहता है, उसी प्रकार इस शरीर में प्राण अपना एक हिस्सा रखकर रहता है। इसलिये उच्छ्वास के साथ प्राण बाहर जाता नहीं। यदि इस का एक पांव शरीर में दृढ़ न होवे तो श्वास बाहर जाते ही मनुष्य मर जायगा। जिस समय प्राण बाहर निकल जाता है, उस समय कोई काल तक ठहर नहीं सकता। हंस प्राण को इसलिये कहते हैं कि यह प्राण शरीर में बुराईयों का (हन्ति) नाश करता है। दूसरा इस का अर्थ (अहं सः=हं+सः=हंसः) मैं वह मुक्तावस्था में रहने वाला आत्मा हूं यह है। इस अर्थ को देख कर हर एक मनुष्य को उस स्थिति को प्राप्त करने के लिये यत्न करना चाहिए। शरीर तथा इंद्रियां तथा मन बुद्धि आदि जो साधन हैं वे सब उसी मुक्ति प्राप्ति के साधन में लगाने चाहिए]।

७४ आठ चक्र।

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्रांक्षरं प्र पुरो नि पश्चा। अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ २२ ॥

अर्थ—(अष्टाचक्रं) आठ चक्रों वाला (एकनेमि) एक नाभी वाला (सहस्राक्षरं) सहस्र पहियों वाला एक चक्र (वर्तत) है, जो (प्र पुरः) आगे और (नि पश्चा) पीछे घूमता है। (अर्धेन) आधे से (विश्वं भुवनं) सब सृष्टि (जजान) उत्पन्न हुई है और (यद् अस्य अर्धं) जो इस का दूसरा अर्ध है, उस का (कतमः स केतुः) कौनसा चिन्ह है।

[इस मंत्र के साथ पीछे आया हुआ। अथ० १०।८।७ मंत्र पृ०... देखिये]।

७५ त्तिप्रधन्वा आलस रहित पुरुषार्थी।

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः।
अन्येषु त्तिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तुते२३
यो अस्य सर्वजन्मनः ईशे सर्वस्य चेष्टतः ।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु २४

अर्थ- हे प्राण ! (यः) जो (विश्व-जन्मनः, सर्व-जन्मनः) सब को जन्म देने वाले (चेष्टतः) हल चल करने वाले (अस्य सर्वस्य, विश्वस्य) इस सब विश्व का (ईशे) स्वामी है । (अन्येषु त्तिप्रधन्वने) दूसरों में तत्काल धनुष्य चलाने वाले (तस्मै ते) उस तुम्हारे लिए (नमः अस्तु) नमन है । (अ-तन्द्रः) आलस रहित (ब्रह्मणा धीरः) ब्रह्म के कारण धैर्य-शाली (प्राणः) प्राण (मा) मुझे (अनु तिष्ठतु) सहायक हो ।

[प्राणशक्ति के कारण सब जगत् के पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इसलिये प्राण ही जगत् का स्वामी है । अन्य इंद्रियों की अपेक्षा प्राण ही व्याधियों पर तत्काल शस्त्र चलाने वाला

है। अन्य इंद्रियां विश्राम लेती हैं, परन्तु प्राण विश्राम नहीं लेता, ब्रह्म का इस को आधार होने से धैर्य वाला होकर यही सदा जगृत रहता है। इसलिये प्राण को बलवान बनाना चाहिए]।

७६ सोये हुओं में जागने वाला।

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन ॥२५॥

अर्थ-(सुप्तेषु) सोने वालों के अन्दर (ऊर्ध्वः) खड़ा रह कर वह प्राण (जागार) जागता है (तिर्यङ्*) तिरछा-नीचे (न नु) नहीं (निपद्यते) गिरता। (सुप्तेषु) सोये हुओं के अन्दर (अस्य सुप्तं) इस का सोना (कश्चन) किसी ने भी (न अनु शुश्राव) नहीं सुना।

[सब इंद्रियां सोती हैं, उस समय प्राण जागता है। ऊर्ध्व गति से चलता रहता है निचली गति से गिरता * नहीं। इंद्रियां जैसी सोती हैं वैसा प्राण भी सोया है यह

---

* " तिर्यङ् न निपद्यते " इस का अर्थ विशेष प्रयत्न करके खोजना चाहिये, अब तक इस का अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ।

कभी किसी ने नहीं सुना। अर्थात् प्राण न थकता हुआ शरीर के लिये हलचल करता रहता है)।

७७ पानी का गर्भ।

प्राण मा मत्पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि

अर्थ–हे प्राण! (मत्) मेरे से (मा पर्यावृतः) न पीछे हटो (मत् अन्यः) मेरे से विभक्त (न भविष्यसि) न होओ। (अपां गर्भ) पानी के गर्भ के (इव) समान (जीवसे) जिन्दा रहते हो। हे प्राण! (त्वा) तुझ को (मयि) मेरे में (बध्नामि) बांधता हूं।

(प्राण का वियोग नहीं होना चाहिए। प्राण जल का पुत्र है। अन्न के विना बहुत दिन तक प्राण रह सकता है, परन्तु पानी के विना प्राण नहीं रह सकता। इसलिये इस का पानी के साथ संबंध वर्णन किया है। प्राणायाम की विधि से हर एक को अपने शरीर में प्राण को स्थिर करना चाहिए)।

ब्रह्मचर्य सूक्त।

७८ विद्या का गर्भ।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः ॥ ३ ॥

अथर्व० कां० ११ सू० ५।

अर्थ—(ब्रह्मचारिणं) ब्रह्मचारी का (उपनयमानः) उपनयन करने वाला (आचार्यः) आचार्य उसे (गर्भ अन्तः) विद्या के गर्भ के अन्दर (कृणुते) करता है। (तं) उस ब्रह्मचारी को (तिस्रः रात्रीः) तीन रात्री पर्यन्त (उदरे) विद्या के पेट में (बिभर्ति) धारण पोषण करता है। (तं जातं) जने हुए ब्रह्मचारी को (देवाः) विद्वान् (द्रष्टुं) देखने के लिए (अभि संयन्ति) चारों ओर से आते हैं।

[उपनयन होने के पश्चात् ब्रह्मचारी द्विज बनता है। जिस के दो जन्म होते हैं, उन को द्विज कहते हैं। एक पहिला जन्म माता के पेट से होता है और दूसरा जन्म

गुरु की विद्या के पेट से होता है। शिष्य का गुरु के पास विद्याध्ययन के लिये रहना गर्भ में रहने के समान ही है। जब विद्या समाप्त करके गुरु की आज्ञा लेकर गुरुकुल से बाहर आता है, उस समय विद्या के गर्भ से उस का दूसरा जन्म होता है। आचार्य के गर्भ में रहना ही उस का ब्रह्मचर्य व्रत है। जिस प्रकार माता के गर्भ में रहा हुआ बालक केवल माता के आधीन होता है, उसी प्रकार गुरुकुल में रहा हुआ बालक गुरु के आधीन रहता है। तीन रात्री रहने का मतलब वेदत्रयी का अध्ययन होने तक रहने से है। नचिकेता यम के घर में भी तीन रात्री रहा था। (कठोपनिषद् देखिये)। इस प्रकार जो स्नातक बनता है, उस को देखने के लिये तथा उस का सन्मान करने के लिये विद्वान् लोक जमा होते हैं। अर्थात् वह ब्रह्मचारी सब के आदर के लिये योग्य होता है]।

७६ ब्रह्मचारी का तप।

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसान-स्तपसोदतिष्ठत् । तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म-ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ५ ॥

अर्थ-(ब्रह्मणः ब्रह्मचारी) ब्रह्म का ब्रह्मचारी (पूर्वः जातः) पहिले होता है । वह (घर्मं वसानः)

घम अर्थात् तप में रहता हुआ (तपसा उदतिष्ठत्) तप से ही ऊपर उठता है । (तस्मात्) इसलिए (ब्रह्मज्येष्ठ ब्राह्मणं) ज्ञान के कारण श्रेष्ठ ब्राह्मण जो (अमृतेन साकं) अमृत के साथ, ज्ञान के साथ (जातं) उत्पन्न हुआ है,उस को (सर्वे च देवाः) सब विद्वान् देखने के लिए आते हैं ।

[ब्राह्मण के पूर्व ब्रह्मचारी होता है, वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य में कष्ट सहता हुआ तप करता है । उस से वह ब्राह्मण बनता है और सब विद्वान् भी उसी से बनते हैं । अर्थात् ब्रह्मचर्य से ही ब्राह्मण अथवा विद्वान् बनते हैं]।

८० लोक संग्रह ।

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः । स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान् संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ ६ ॥

अर्थ–(समिधा) समिधा-साधनाओं से (समिद्धः) प्रकाशित हुआ हुआ (कार्ष्णं वसानः) कृष्णचर्म परिधान करता हुआ (दीक्षितः) दक्षता युक्त (दीर्घ-

श्मश्रुः) लम्बी दाढी मूछों वाला (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (एति) जाता है। (स सद्य) वह तत्काल ही (लोकान् संगृभ्य) लोकों का संग्रह करके (मुहुः आचरिकृत्) वारंवार उन को आचार बताता हुआ (पूर्वस्मात् उत्तरं) पूर्व से उत्तर (समुद्रं) समुद्र को (एति) प्राप्त है।

[गुरुकुल में रहकर जिस ने अध्ययन समाप्त किया है, वह विद्वान् ब्रह्मचारी पूर्व समुद्र से उत्तर समुद्र तक नाना देशोंमें भ्रमण करके, लोकों को अपने मत में लाकर, उन को धर्माचारों की शिक्षा देके, लोक संग्रह का कार्य करता है। ब्रह्मचारी को स्नातक होते ही विवाह से पूर्व देशांतरों में भ्रमण करके धर्म का प्रकार करना चाहिए। और पश्चात् विवाह करना चाहिए]।

८१ राजा और गुरु ब्रह्मचारी।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी॥१६॥

अर्थ-देश में (आचार्य) अध्यापक (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचर्ययुक्त होना चाहिए। (प्रजापति) प्रजा का पालन करने वाले राजा और राजपुरुष (ब्रह्मचारी)

ब्रह्मचारी होने चाहिए। इस प्रकार का (प्रजापति) राजा (वि-राजति) विशेष प्रकार से चमकता है। इस प्रकार (विराट्) चमकने वाला और (वशी) इंद्रियों को वश में रखने वाला राजा (इन्द्रः) इन्द्र (अभवत्) होता है।

[देश में सब अध्यापक ब्रह्मचर्य पालन करके विद्याध्ययन करने वाले होने चाहिए। तथा राजा और सब राज पुरुष भी वैसे ही ब्रह्मचर्य पालन करने वाले तथा इंद्रियां स्वाधीन रखने वाले होने चाहिए। इस मंत्र में प्रजापति शब्द सब राजपुरुषों का वाचक है। छोटे सिपाही से लेकर बड़े महाराजा तक सब लोक धार्मिक होने चाहिए। जहां ऐसा होता है वहां का राज्य शासन ही श्रेष्ठ गिना जाता है]।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते १७॥

अर्थ-(ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य-रूप तप से (राजा) राजा (राष्ट्रं) राष्ट्र को (वि-रक्षति) विशेष प्रकार रक्षा करता है। (आचार्य) गुरु (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य-रूप तप से (ब्रह्मचारिणं) ब्रह्मचारी की (इच्छते) इच्छा करता है।

[ब्रह्मचर्य का तप सब राष्ट्र के बालकों से करवाकर अर्थात् अपने राज नियमों द्वारा सब राष्ट्र को ब्रह्मचर्य पालन

करवाकर राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करता है । ब्रह्मचर्य से आयु और आरोग्यता बढ़ती हैं, व्याधि कम होती है, यही राष्ट्र का रक्षण है । अध्यापक भी ब्रह्मचर्य पालन वाले विद्यार्थियों को चाहते हैं । राजा के नियम तथा अध्यापकों की सहायता से राज्य का सुख बढ़ता है। ये दानों मंत्र आदर्श राष्ट्रकी कल्पना बता रहे हैं, राजपुरुष तथा अध्यापक ये सब ब्रह्मचर्य पालन पूर्व धर्म नियमों का पालन करने वाले ही होने चाहिए ऐसा पूर्व मंत्र में ही कहा है ।

८२ कन्या का ब्रह्मचर्य ।

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति॥१८

अर्थ–(ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य से (कन्या) पुत्री (युवानं पतिं) जवान पति को (विन्दते) प्राप्त होती है । (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य से (अनड्वान् अश्वः) बैल और घोड़ा (घासं) घास को (जिगीर्षति) भक्षण करता है ।

[ब्रह्मचर्य पालन करने वाली कन्या ब्रह्मचर्य पालन करके जवान बने हुए पति का पाणिग्रहण करती है । बैल घोड़ा आदि पशु भी ब्रह्मचर्य पालन करके ही पुष्ट रहते हैं। घोड़ा घोड़ी बैल गाय आदि पशुओं का पालन करने वाले

इस बात की ओर ध्यान देते हैं, परन्तु वे अपने लड़कों की ओर वैसा ध्यान नहीं देते !!!]

८३ ब्रह्मचर्य से मृत्यु का नाश।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥१९

अर्थ—ब्रह्मचर्य-रूप तप से देवों ने मृत्यु का नाश किया। ब्रह्मचर्य से ही इन्द्र ने सब देवों को तेज दिया।

[देव शब्द का अर्थ इन्द्रियां, विद्वान और पृथिवी आदि पदार्थ हैं। इन्द्र शब्द का अर्थ जीव, राजा, बिजुली आदि है। ब्रह्मचर्य से इन्द्रियों का बल बढ़ता है, ब्रह्मचर्य से विद्वान् लोग अपनी मृत्यु को दूर करते हैं। जीव ब्रह्मचर्य धारण करने वाले पुरुष की इन्दियों के अन्दर तेज रखता है, ब्रह्मचारी राजा ब्रह्मचारी विद्वानों की तेजस्विता बढ़ाता है। इस प्रकार सोच कर इस मन्त्र का भाव ध्यान में लाना चाहिए]

८४ परमेश्वरीय नियम।

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
अपक्षा पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः२१

अर्थ-(अपक्षाः) पक्ष रहित (पार्थिवाः) पृथ्वी पर रहने वाले (आरण्याः ग्राम्याः पशवः) अरण्य के और ग्राम के पशु और (ये दिव्याः पक्षिणः) जो आकाश में संचार करने वाले पक्षी हैं, (ते) वे सब (जाता, ब्रह्मचारिणः) जन्म से ही ब्रह्मचारी हैं।

[अर्थात् पशु पक्षियों का ब्रह्मचर्य परमेश्वरीय नियमों द्वारा जन्म से ही सिद्ध है। इसलिए मनुष्यों की अपेक्षा वे अधिक निरोगी हैं। मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होने के कारण परमेश्वरीय नियमों द्वारा उस के ब्रह्मचर्य की सुरक्षिता नहीं होती। इसलिए राजनियमों द्वारा, विद्वानों की दक्षता द्वारा तथा अपने दृढ़ निश्चय द्वारा उस का पालन करना चाहिए। जो पशु पक्षियों में स्वभाव सिद्ध बात है वही बात मनुष्यों को जान बूझकर अपने नियमों से करनी चाहिए]।

८५ काल सूक्त।

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो
अजरो भूरि रेताः। तमारोहन्ति कवयो
विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥१॥

अर्थ—(भूरि रेताः) बड़ा बलवाला (अजरः) बुड्ढा न होने वाला (सहस्राक्षः) सहस्रों नेत्रों वाला (सप्तरश्मिः) सात किरणों वाला (कालः अश्वः) काल रूपी अश्व (वहति) चलता है। (तस्य चक्राणि) उस के चक्र (विश्वानि भुवनानि) सब गोल हैं, सब भुवन हैं। (विपश्चितः कवयः) ज्ञानी दूरदर्शी (तं आ रोहन्ति) उस पर चढ़ते हैं।

[काल ही एक अश्व है, उसी के चलने से काल गिना जाता है, इस काल-रूपी घोड़े पर विद्वान् लोक सवार होते हैं। अर्थात् काल को अपने आधीन करके अपने अपने कार्य करते हैं। काल को आदर भाव से देखते हैं। घोड़े पर बैठने वाला जिस प्रकार घोड़े को अपना सहायक समझता है, उसी प्रकार काल-रूपी घोड़े पर सवार होने वाले विद्वान अपनी उन्नति काल का उत्तम उपयोग करके साध्य करते हैं।]

८६ सात चक्र ।

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभी-
रमृतं न्वक्षः । स इमा विश्वा भुवनान्य-
ञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥ २ ॥

अर्थ-(एष कालः) यह काल (सप्त चक्रान् वहति) सात चक्रों को चलाता है (अस्य सप्त नाभीः) इस के सात नाभी हैं । (अक्षः नु अमृतं) इस का चक्र दण्ड अमरपन है। (सः) वह (इमानि विश्वानि भुवनानि) इन सब भुवनों को (अञ्जत्) प्राप्त करता है। (स कालः) वह काल (नु प्रथमः देवः) निश्चय से पहिला देव (ईयते) समझा जाता है।

(छः ऋतु और सातवां अधिक मास मिल कर सात चक्र होंगे, अथवा वर्ष, ऋतु, महीना, पक्ष, दिन, रात, घड़ी ये होंगे। जिस प्रकार चक्र घूमने पर भी मध्य नहीं घूमता उसी प्रकार काल-चक्र घूमता हुआ भी उस का मध्य स्थिर रहने से वही अमरता देता है । इसीलिए इस को पहिला देव समझते हैं। क्योंकि इसी के वश में रहने से सब अन्य उन्नति प्राप्त होती है । समय को व्यर्थ न खोना, आलस में समय नष्ट न करना ही काल को वश करना है।

८७ भरा हुआ घड़ा।

पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः । स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥ ३ ॥

अर्थ-(काले) समय के ऊपर (पूर्णः कुम्भः) भरा हुआ घड़ा (अधि आहितः) रखा है। (सन्तः) रहने वाले हम (नु तं वै) निश्चय से उसी को (बहुधा पश्यामः) बहुत प्रकार देखते हैं। (परमे व्योमन्) बड़े आकाश में (इमा विश्वानि भुवनानि) इन सब भुवनों को (सः प्रत्यङ्) वह चलाता है। (तं कालं आहुः) उस को काल कहते हैं।

(सूर्य ही काल के ऊपर रखा हुआ घड़ा है। कुम्भ शब्द का आच्छादन ऐसा भी अर्थ है। "व्योमन्" शब्द में "वि[1]+ओम्[2]+मन्[3] ये तीन शब्द हैं। प्रकृति[1]+परमेश्वर[2]+जीव[3] ये उन के क्रमशः अर्थ हैं। आकाश के अन्दर ये तीनों हैं इसलिए उस को व्योमन् कहते हैं। इसी आकाश में यह काल चक्र घुमाने वाला सूर्य रहता है।)

८८ पिता ही पुत्र बना।

स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत्। पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत् परमस्ति तेजः ॥ ४ ॥

अर्थ-(स एव) वही सूर्य (भुवनानि सं आभरत्) भुवनों का भरण पोषण करता है, (स एव) वही (भुवनानि) भुवनों को(सं पर्यैत्) अच्छी प्रकार व्यापता है। (पिता सन्) पिता होता हुआ वही (एषां पुत्रः) इन का पुत्र (अभवत्) हुआ है। (तस्मात्) उस से (वै) निश्चय से (अन्यत् परं तेजः) दूसरा बड़ा तेज (न अस्ति) नहीं है।

काल से ही ये गोल रहे हैं। उसी से ये गोल पैदा हुए हैं, इसलिये वही इनका पिता है। इनको वही पवित्र करने हारा है, इसलिये उसी को पुत्र कहते हैं। "पु+त्र" शब्द का अर्थ "दुःख से बचाने वाला" पवित्र कर्ता ऐसा होता है। गोलों के गति से काल का ज्ञान होता है इसलिये काल उन का पुत्र है परन्तु काल के कारण सब जगत् की स्थिति होती है, इसलिये वही सब का पिता है। इस से काल ही सब का पिता और साथ साथ पुत्र कैसा होता है इस का बोध हो सकता है]।

८९ काल की महिमा।

कालोऽमूं दिवमजनयात् काल इमा पृथिवीरुत। काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥ ५ ॥

अर्थ—काल ने ही इस द्युलोक को उत्पन्न किया, काल ने ही इन भूमियों को उत्पन्न किया, काल ही भूत और भविष्य को उत्पन्न करके उस को (इषितं) गतिमान बना कर (ह) निश्चय से (वि तिष्ठते) विशेष प्रकार से रहता है।

कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः ।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति

अर्थ—(कालः) काल (भूतिं) उन्नति को (असृजत) उत्पन्न करता है काल में सूर्य तपता है, काल में ही सब भुवन रहते हैं, काल में ही आंख देखती है। [काल के आधार से सब कुछ है]।

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् । कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥ ७ ॥

अर्थ—काल में मन, काल में प्राण, काल में नाम रक्खा है। काल (आगतेन) आने से ये सब प्रजायें (नन्दन्ति) आनन्दित होती हैं।

[नाम कीर्ति यश ये सब काल के आधीन हैं। काल रूपी घोड़े पर सवार होकर अर्थात् उस का अच्छा उपयोग करके अपना मन और प्राण अर्थात् अपना तनमन धन काल को अर्पण करने से, अर्थात् समय के सब विभागों में यथा-योग्य कार्य करके ही प्रजाओं की सुख वृद्धि होती है। परन्तु जो काल की पर्वाह नहीं करते उन की भी पर्वाह काल नहीं करता। काल की रेलगाड़ी स्वतंत्रता पूर्वक चल रही है, जो उस में सवार होंगे वे आगे जायेंगे, परन्तु जो नहीं सवार होंगे उन की काल पर्वाह नहीं करेगा। अर्थात् वे पीछे ही रहेंगे]।

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः॥

अर्थ—काल के अन्दर तप, काल के अन्दर श्रेष्ठता काल के अन्दर ब्रह्म रक्खा है। (यः) जो (प्रजापतेः पिता) प्रजापति का पिता (आसीत्) था वही (कालः) काल (ह सर्वस्य ईश्वरः) निश्चय से सब का ईश्वर है।

[काल के आधार पर सब कुछ है, इसलिये वही सब का ईश्वर है]।

तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम्॥८॥

अर्थ-(तेन इषितं) उस ने प्रेरा हुआ (तेन जाते) उस से बना हुआ (तद् उ) वही (तस्मिन् प्रतिष्ठितम्) उसी में रहा है। (कालः) काल ही (ब्रह्म भूत्वा) ब्रह्म बन कर (परमेष्ठिनं बिभर्ति) परमेष्ठी का पोषण करता है।

९० स्वयम्भू कश्यप।

कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्

स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत

अर्थ-(कालः प्रजाः असृजत) काल ने प्रजा उत्पन्न की। (अग्रे) पहिले (प्रजापतिं कालः) प्रजा-पति को काल ने उत्पन्न किया। स्वयम्भू (कश्यपः) द्रष्टा ईश्वर भी काल से हुआ। तप भी काल से उत्पन्न हुआ।

[प्रलय काल के पश्चात् नियत समय पर हिरण्यगर्भादि उत्पन्न होते हैं। ईश्वर प्रकट होकर सृष्टि आदि उत्पन्न करता है। यही भाव उक्त मंत्रों का है, कि जिन में परमेष्ठी प्रजापति काल से उत्पन्न हुआ ऐसा कहा है।]

कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः । काले नोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः ॥ १ ॥

अर्थ-काल से (आपः) जल (समभवन्) उत्पन्न होगया । काल से (ब्रह्म) ज्ञान हुआ । तप और दिशायें काल से होगयीं । काल में सूर्य उदय होता है और पुनः काल में अस्त होता है।

कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही । द्यौर्मही काल आहिता ॥ २ ॥

अर्थ-काल से वायु चलता है, काल से पृथिवी बड़ी होगई है । (मही द्यौः) बड़ा द्युलोक भी काल में रहा है ।

९१ काल से मन्त्र, ऋचा और यजु ।

कालो ह भूतं भव्यं च मंत्रो अजनयत् पुरा । कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥ ३

अर्थ–(पुरा) पूर्व में (भूतं) हुआ हुआ (भव्यं) भविष्य में होने वाला (मन्त्रः) मन्त्र काल ही में है। काल से ही ऋचायें हुईं और यजु भी काल से ही बना।

६२ अथर्वा आंगिरस ।

कालेऽयमंगिरा देवोथर्वा चाधितिष्ठतः ।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च
लोकान् विधृतीश्च पुण्याः । सर्वाल्लोका-
नाभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो
नु देवः ॥ ५ ॥

अर्थ–यह अंगिरा अथर्वा देव भी काल में ही रहा है। यह लोक, पर-लोक, पुण्य लोक, पुण्य अन्तरिक्ष इन सब लोकों को (ब्रह्मणा) ब्रह्म के द्वारा (अभिजित्य) जीत कर (स कालः) वही काल (परमः नु देवः) श्रेष्ठ देव है ऐसा (ईयते) माना जाता है।

[तात्पर्य काल का महत्व बहुत है, ऐसा समझ कर उस का सत्कार्य में उपयोग करना चाहिए। ठीक समय पर

वेदों का प्रकट होना, इन मंत्रों में वर्णित है। जिस प्रकार समय पर वर्षा होती है, उसी प्रकार वेद भी ठीक समय पर होते हैं।]

६३ प्रजा और राजा।

सोऽरज्यत् ततो राज॒न्यो॑ऽजायत ॥ १ ॥

स विश॒ः सब॑न्धून॒न्नम॒न्नाद्य॑म॒भ्युद॑तिष्ठत् ॥२॥

वि॒शां च॒ वै स सब॑न्धूनां चान्न॑स्य च॒ान्ना-
द्य॑स्य च प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥३॥

(अथर्व कां० १५ सूत्र ८)

अर्थ-(सः) वह (अरज्यत) प्रेम रंजन करने लगा (ततः) उस से वह (राजन्यः) क्षत्रिय, राजा (अजायत) बना। (सः) वह राजा (स बन्धून्) बन्धुओं के समेत (विशः) प्रजाओं को (अन्नं) अन्न (अन्नाद्यं) पौष्टिक अन्न पेय आदि (अभि उदतिष्ठत्) प्राप्त करता है। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार जानता है (सः) वह (स बन्धूनां विशां च वै) निश्चय से बांधवों समेत प्रजाओं का (अन्नस्य च) और अन्न का

(अन्नाद्यस्य च) पौष्टिक खाद्य पेयों का (प्रियं धाम भवति) प्रिय स्थान होता है।

[जो प्रजाओं का हित करता है, प्रजाओं से प्रेम करता है, वही राजा होता है। जो प्रजा का हित नहीं करता वह राजा नहीं कहलाता। प्रजाओं के रंजन करने वाले राजा को ही प्रजा, अन्न तथा उपभोग्य पदार्थ प्राप्त होते हैं। जो यह बात जानता है, वही प्रजाओं का प्रिय बनता है। प्रजा का राजा के साथ जो जो संबंध है उसे जानना अत्यन्त आवश्यक है। प्रजा स्वतंत्र है। राजा के बिना प्रजा रह सकती है। परन्तु प्रजा के बिना राजा का अस्तित्व नहीं रह सकता। जो प्रजाओं का रंजन करता है, वही राजा हो सकता है। प्रजाओं की इच्छा पर राजा का अस्तित्व है, यह बात जो जानता है, वही प्रजाओं का प्रिय है। इस मंत्र में राजा प्रजा के परस्पर संबंध का बहुत अच्छा वर्णन है।]

स विशोऽनुव्यचलत् ॥ १ ॥ तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन्॥२॥ सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद३॥

अर्थ-(सः) वह राजा (विशः) प्रजाओं को (अनु व्यचलत) अनुसरता है, (तं) उस को (सभा

च) सभा और (समितिः च) समिति और (सेना च) सैन्य और (सुरा च) धनकोश = ख़ज़ाना (अनुव्यचलन्) अनुसरते हैं; (य एवं वेद) जो यह जानता है। वह सभा, समिति, सेना और सुरा का प्रिय स्थान होता है।

[जो राजा प्रजाओं के पीछे चलता है, उस के पीछे सभा, समिति, सैन्य और ऐश्वर्य चलते हैं; यह तत्व जो जानता है वह सभा के योग्य होता है। राष्ट्र के विद्वानों की जो मंडली होती है, वह राष्ट्र सभा होती है; यही राष्ट्र का मत प्रकाशित करने वाली हुआ करती है। राष्ट्र सभा में से चुने हुए श्रेष्ठ विद्वानों का जो संगठन होता है, वह समिति कही जाती है। शूरों की जो फ़ौज होती है, उस को सेना कहते हैं; सुरा शब्द राष्ट्रीय द्रव्यकोश का वाचक है। "सुरऐश्वर्ये" इस धातु से वह बनता है, इसलिये सुरा शब्द का ऐश्वर्य ऐसा ही अर्थ है। सभा, समिति, सेना और ऐश्वर्य कोश इनके ऊपर प्रजा की आधीनता रहती है और इनकी सहायता प्रजा का हित करने वाले राजा को ही मिलती है। कई यहां कह सकते हैं कि राजा स्वतंत्र है, उसकी प्रजा के आधीन क्यों रहना चाहिए? इस के उत्तर में इतना कहना पर्याप्त है कि राजा न हो तो प्रजा रह सकती है, परन्तु प्रजा न होने पर राजा का अस्तित्व नहीं हो सकता है। इसलिये उक्त मंत्र ने उक्त चारों प्रकार का अधिकार प्रजाओं के पास रखा है)।

६४ बिच्छू और सांप।

अरसासं इहाहंयो ये अन्ति ये च दूरके।
घनेनं हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम्॥८॥

अर्थ-(इह) यहां (ये) जो (अरसासः) शोष उत्पन्न करने वाले (अहयः) सांप (अन्ति) पास (च ये दूरके) और जो दूर हैं। (वृश्चिकं) बिच्छू को (घनेन) हथोड़े से (हन्मि) ठोकता हूं और (आगतं) आये हुए (अहिं) सांप को (दण्डेन) सोटे से मारता हूं।

(सांपों के विष से शरीर में खुश्की उत्पन्न होती है, इस लिये उन को "अ+रस" कहा है। जिन के कारण द्रवता पतलापन कम होता है, जिन के विष से खून सूखता जाता है, उन को "अरस" कहते हैं। बिच्छू को हथोड़े से मार सकते हैं, परन्तु सांप के पास नहीं जाना चाहिए, उस को दण्ड से ठोकना चाहिए। दण्ड से ज़रा दूर रहकर मारा जा सकता है। अथर्व १०।४ इस सूक्त के अंदर विष युक्त सांपों की जातियों का वर्णन है जिन में कसर्णील, *श्वित्र * असित, रथर्वी, * पृदाकु, स्त्री-अहि, पुरुष-अहि, अद्याश्व, * स्वज, * तिरश्चिराजी, दर्वी, करिक्रत, दशोनसि इतने

---

* संध्या के मंत्रों में आये हुए इन शब्दों के अर्थ भिन्न हैं। यह बात यहां ध्यान में रखनी चाहिए।

नाम आये हैं। जो सांप काले होते हैं उन को असित कहते हैं,और सफेद होते हैं उन को श्वित्र कहते हैं,इसी प्रकार अन्यान्य सांपों के विषमें जानना चाहिए। इन शब्दों के अर्थ जानने से उन की पहचान हो सकती है।]

इस सूक्त में पैद्व का वर्णन आया है। पैद्व सब सांपों को मारता है ऐसा एक मंत्र में कहा है। देखियेः—

६५ पैद्व से सांपों का नाश।

पैद्वो हन्ति कसर्णीलं पैद्वः श्वित्रमुतासितम्।
पैद्वो रथर्व्याः शिरः संबिभेद पृदाक्वाः ॥५॥

अर्थ–पैद्व* कसर्णील नामक सांप को हनन करता है, पैद्व सफेद और काले सांप को मारता है। रथर्वी और पदाकू का शिर पैद्व ही फोड़ता है।

[कई कहते हैं कि पैद्व एक प्रकार का घोड़ा है, मेरे ख्याल में पैद्व नाम नेवले का होगा। क्योंकि वही एक प्राणि ऐसा है कि जो सांपों को इस प्रकार मार सकता है। सोचना चाहिए कि जिस से सांपों का डर हटता है,ऐसा पैद्व कौनसा पदार्थ है]।

* पैद्व के विषय में ऋ० मं० ९ सू० ८८ मं० ४ में यही बात कही है।

सांपों की दवा पहाड़ों पर होती है, ऐसा अगले मंत्र में कहा है:—

६६ सांप के लिए दवा।

कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम्।
हिरण्ययीभिरभ्रिभि गिरीणामुप सानुषु॥१४

अर्थ—(कैरातिका सका कुमारिका) भीलों की छोटी लड़की (हिरण्ययीभिः अभ्रिभिः) चमकने वाले हथियारों से (गिरीणां उप सानुषु) पहाड़ों की उतराई पर (भेषजं खनति) औषधि खोदती है।

[पहाड़ों पर रहने वाले लोग इन औषधियों को जानते हैं, इस लिये उन से इन दवाइओं को जानना चाहिए यह तात्पर्य है।]

विष हरण करने वाले वैद्य का वर्णन अगले मंत्र में आया है:—

६७ सांपों का वैद्य।

आयमगन् युवा भिषक् पृश्निहापराजितः।
स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च१५

अर्थ-(अयं) यह (पृश्नि-हा) विष का नाश करने वाला (अपराजितः) जिस का पराभव नहीं हुआ, ऐसा (युवा भिषक्) जवान वैद्य (अगन्) आया है। (स्वजस्य वृश्चिकस्य च) सांप और बिच्छू (उभयोः) इन दोनों का (सः जम्भनः) वह नाशक है।

समुद्र का जल विष को दूर करता है, ऐसा अगले मंत्र में कहा है:—

६८ जल से विष का नाश।

अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः।
हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः॥२०

अर्थ-(सर्वेषां अहीनां विषं) सब सांपों का विष (सिन्धवः) समुद्र का जल (परा वहन्तु) दूर ले जाय। तिरश्चिराजी नामक सांप (हन्ताः) मर गये और पृदाकुओं का (निपिष्टासः) चूरण होगया।

(सिंधु नाम समुद्र का है। वह विष-हारक है। देखना चाहिए कि खारे पानी से विष कम होता है या नहीं। खारा नमक वाला पानी पीने से वमन होता है और इस कारण ज़हर दूर होता होगा। यहां सिंधु शब्द का अर्थ निश्चित करने के लिये वैद्यों की सहायता लेनी चाहिए।]

घी से विष दूर होता है ऐसा अगले मंत्र में कहा है:—

६९ घी से विष का नाश।

तौदी नामासि कन्या घृताची नाम वा असि।
अधस्पदेनं ते पदमाददे विषदूषणम् ॥१४॥

अर्थ—तौदी नामक अथवा घृताची नामक कन्या तू है। (विषदूषणम्) विष को दूर करने वाला (ते पदं) तुम्हारा स्थान (अधस्पदेन) निचले स्थान से (आददे) स्वीकारता हूं।

[घृताची का अर्थ (घृत+अची) घी देने वाली ऐसा है। * तौदी शब्द का ठीक अर्थ ध्यान में नहीं आता है। पाठकों को सोचना चाहिए। घी विषको दूषित करने वाला अर्थात् विषका नाश करने वाला है। इसलिये विषबाधा होने पर घी का प्रयोग करके देखना चाहिए।]

पसीने के द्वारा विष दूर करने की विधि निम्न मंत्र में लिखी है:—

---

* तौद शब्द से एक प्रकार की वनस्पति का बोध होता है। ऐसा कोशों में लिखा है।

१०० पसीने से विष का नाश ।

अंगादंगात्प्रच्यावय् हृदयं परिवर्जय ।
अधा विषस्य यत्तेजोऽवाचीनं तदेतु ते ॥२५

अर्थ-(हृदयं परिवर्जय) हृदय को छोड़ कर (अगात अंगात) हर एक शरीर के अवयव से (प्रच्यावय) निचोड़ कर निकालो (विषस्य यत तेजः) विष का जो तेज है वह (अधा) नीचे जाने वाला होकर (तत ते अवाचीनं एतु) वह तेरे अन्दर से नीचे होकर चले जायं ।

(हृदय (दिल) को छोड़ कर, हर एक अवयव से विष को निछोड़ कर नीचली गति से निकालना पसीने के द्वारा ही हो सकती है, क्योंकि पानी की गति ही अवाचीन अर्थात् निम्न होती है। इस विधि में हृदय को बचाना चाहिये, ऐसा जो उक्त मंत्र में कहा है, उस का विचार वैद्यों को करना चाहिए।]

अग्नि विष को दूर करता है ऐसा अगले मंत्र में कहा है:—

१०१ अग्नि से विष का नाश।

आरे अभूद्विषमरौद् विषे विषमप्रागपि।
अग्निर्विषमहेर्निरधात् सोमो निरणीयत्।
दष्टारमन्वगाद् विषमहिरमृत ॥ २६ ॥

अर्थ-(अहे विषं) सांप का विष (अग्निः निरधात्) अग्नि ने दूर किया। (सोमः) औषधि के रस ने (विषं) विष को (निरणीयत्) दूर किया। इस लिए (विषं आरे अभूत्) विष दूर होगया। (विषे विषं) विष के अन्दर का विषपन (अप्राग् अपि अरौद्) पहिले से होया। अर्थात् कामयाब न होने से दुःखी हुआ। (दष्टारं अन्वगात्) दंश करने वाले के पीछे चला और (अहिः अमृत) सांप मर गया।

(सांप का विष अग्नि से हटता है। इसलिये सांप के काटे हुए स्थान पर जलता कोयला रखना चाहिए। औषधि के रस से या सोम-रस से विष दूर होता है। ये सब क्रियाएं करके देखनी चाहिएं। काटने वाले सांप को वापस विष किस प्रकार जाता है और वह किस प्रकार मरता है ये बातें ठीक समझ में नहीं आतीं। जिस को सांप ने काटा

है यदि वही मनुष्य उसी समय सांप को पकड़ कर काटेगा तो सांप उसी क्षण मरता है ऐसा महाराष्ट्रियों का विश्वास है। न जानें वह कितना सत्य है और इस का भी विचार नहीं हो सकता कि उस समय सांप को किस प्रकार दंश किया जाय।]

१०२ ओदन का रूपक।

"ओदन" शब्द का अर्थ "भात, पके हुए चावल, चरु" ऐसा है। अथर्व० १०।३।१ सूक्त के अंदर कुछ अलंकार से यह शब्द आया है, ऐसा प्रतीत होता है। देखिये:—

तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम्॥१॥
द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी
सप्त ऋषयः प्राणापानाः ॥ २ ॥ दितिः
शूर्पमदिति शूर्पग्राही वातोपाविनक् ॥४॥
श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लो-
हितमस्य लोहितम् ॥ ७ ॥ त्रपु भस्म
हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः ॥ ८ ॥

अर्थ-(तस्य ओदनस्य) उस ओदनका बृहस्पति सिर है. ब्रह्म मुख है, द्यु और पृथिवी (श्रोत्रे) दोनों कान हैं सूर्य और चन्द्र आंख हैं, सप्त ऋषि प्राण और अपान है। (दिति) खण्ड वाली सृष्टि (शूर्प) छाज है तथा (अदितिः) अ-खण्ड मूल प्रकृति (शूर्पग्राही) छाज चलाने वाला है (वातः) वायु (अपाविनक्) हवा देता है। (श्यामं अयः) काला लोहा (अस्य मांसानि) इस का मांस है और (लोहितं) लोहा इस का (लोहितं) खून ही है। (त्रपु) टीन (भस्म) भस्म है. (हरितं पुष्करं) चमकीला आकाश अथवा वायु (अस्य गन्धः) इस का वास-सुवास है।

[इस मंत्र से पता लगता है कि ओदन का अर्थ पके हुए चावल इतना ही नहीं। यह ब्रह्मांड देह ही ओदन है। सब संसार ही ओदन है। जैसे पके हुए चावल भोजन के लिये योग्य होते हैं, इसी प्रकार यह संसार निष्कामता पूर्वक उपभोग के लिये योग्य है। विश्वरूप की कुछ कल्पना यहां प्रतीत होती है। लोहा पुरुष का खून है, यह बात इस मंत्र में कही है। लोहे के साथ खून = रक्त का संबंध अन्य स्थान पर आया है।]

ततश्चैनमन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ॥०॥ ३३ ॥

अर्थ-(ततः) पश्चात् (एनं) इस ओदन को (अन्याभ्यां) दूसरे (श्रोत्राभ्यां) कानों से (प्राशीः) भक्षण किया, पिया, (याभ्यां) जिन से (च एतं) इन को (पूर्वे ऋषयः) प्राचीन अथवा पूर्ण ऋषि (प्राश्नन्) पीते आये हैं।

इस मंत्र में उक्त ओदन को कानों द्वारा पीने का उल्लेख है। प्राचीन ऋषि लोग कानों से जिन चावलों को पीते थे, वे चावल (ओदन) कुछ अन्य बात की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। अगले मंत्रों में आंखों द्वारा ओदन भक्षण करने का उल्लेख है (मं० ३४)। उस से अगले मंत्र में प्राण और अपान से ओदन को भक्षण करने का उल्लेख है (मं० ३८)। इस प्रकार देखने से पता लगता है कि ओदन का वास्तविक स्वरूप चावल नहीं है, परन्तु विश्व के रूप की ओर इस का इशारा है। मं० ४६ में पांवों से तथा ४८ में हाथों से ओदन पीने को लिखा है। इसी ओदन से ३३ लोकों की उत्पत्ति लिखी है। देखिए:—

एतस्माद्वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः ॥ ५२ ॥

अर्थ-(इस ओदन से तेतीस लोकों को प्रजापति ने बनाया।

इन मन्त्रों का विचार करने से ओदन की कुछ कल्पना स्पष्ट हो सकती है। ओदन शब्द से सृष्टि का बोध होता है। इस दृष्टि से इस सूक्त की ओर देखने से बड़ा अर्थ का गौरव विदित होने लगता है। कानों द्वारा पीने का तात्पर्य यह है कि विश्व के गुणों का वर्णन सुनना, आंखों द्वारा पीने का मतलब यह है कि विश्व का निरीक्षण करना। इसी प्रकार अन्य अवयवों द्वारा पीने का तात्पर्य्य समझना चाहिए।

१०३ इक्कीस तत्त्व।

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पति र्बला येषां तन्वो अद्य दधातु मे॥

(अथर्ववेद १।१। मं० १)

अर्थ–(विश्वानि रूपाणि) सब रूप अर्थात आकार (बिभतः) धारण करते हुए (ये) जो (त्रि-सप्ताः) तीन सप्तक पदार्थ (परियन्ति) चारों ओर चलते हैं। (तेषां बलानि) उन के बल उन की शक्तियां (मे तन्वः) मेरे शरीरों में (अद्य) आज (वाचः-पतिः) वाणी का स्वामी ईश्वर (दधातु) धारण करे।

"त्रिषप्त" शब्द सम्पूर्ण प्राकृतिक तत्वों का वाचक है। सप्त धातु या सात मूल तत्वों में सत्व

रज तम इन तीन गुणों के कारण प्रत्येक के तीन तीन भेद होते हैं। ७×३=२१ तत्वों से सब जगत् के रूप अर्थात् आकार बने हैं। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश अहंकार, और महतत्त्व ये सात पदार्थ तीनों गुणों के कारण इक्कीस प्रकार के भासते हैं। सम्पूर्ण जगत् के रूप को इन पदार्थों ने धारण किया है। "परियन्ति" शब्द बता रहा है कि इन पदार्थों में गमन-गति-शुरू है। आकार के बनने के पश्चात् उस में परिवर्तन होता है (१) उत्पन्न होना, (२) रहना (३) बढ़ना (४) विकार होना, (५) नाश की ओर जाना (६) नाश होना ये छः प्रकार उसी गति से होते हैं। प्रत्येक पदार्थ को सृष्टि के अन्दर ये छः अवस्थाएं भोगनी पड़ती हैं। मनुष्य के शरीर में बल इन २१ पदार्थों के कारण होता है। "तन्वः" शब्द अनेक शरीरों का बोधक होने से मनुष्य के स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरों का वर्णन करता है। "अद्य" शब्द बल धारण करने का कार्य आज ही करो ऐसा उपदेश दे रहा है। शक्ति वर्धन का उपाय आज ही शुरू करना चाहिए। कोई भी अच्छा कार्य कल पर नहीं छोड़ना चाहिए।

१०४ जल का वर्णन।

आपो हिष्ठा मयोभुवस्तान ऊर्जे दधा-
तन। महे रणाय चक्षसे॥

(अथर्व० १।५।१)

अर्थ-(आपः) पानी (मयः-भुवः) आरोग्य-दायक (हि) निश्चय मे (स्थ) है। इसलिए (ताः) उस जल को (न ऊर्जे) हमारे बल और (महे) महान् (रणाय) रमणीय, आनन्द-दायक (चक्षसे) तेज के लिए (दधातन) धारण करें।

इस मन्त्र में जल के गुण वर्णन किए हैं। आरोग्य-दायक, बल वर्धक और आनन्द कारक तेजस्वी शुद्धि करने वाला उदक है। "मयो-भुवः" शब्द आरोग्य को उत्पन्न करने वाला जल है, ऐसा भाव बता रहा है। जहां आरोग्य न हो अर्थात् जहां बीमारी होगी, वहांसे बीमारी का हटाना और बल की स्थापना करना जल का कार्य है।

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

अर्थ-(यः) जो (वः) आप उदकों का (शिवतमः रसः) अत्यन्त कल्याण कारक रस है (तस्य) उस का (नः) हम को (ह भाजयते) निश्चय से सेवन कराइये। (इव) जिस प्रकार (उशतीः मातरः) इच्छा करने वाली माताएं अपने पुत्र के पास पहुंचती हैं, उसी प्रकार जल स्थान स्थान पर पहुंच कर अपना कार्य करे।

जल के अन्दर कल्याण कारक गुण है। जिस का वर्णन पिछले मन्त्र में आया है। इस मन्त्र में जल का वर्णन माता शब्द से किया है। जिस प्रकार माता बालक का हित करती है, उसी प्रकार जल मनुष्यों का हित करता है यह भाव यहां है।

१०५ सपत्न।

एषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्रे। सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥

अथर्व १।९।४

अर्थ-(एषां) इन को (अहं) मैं (यज्ञं उत वर्चः) यज्ञ और तेज (ददे) देता हूं और (अग्रे) प्रथम (रायः पोषं) धनों से पोषण (उत चित्तानि) और चिन्तन=मनन करने की शक्तियां देता हूं। (सपत्नाः) सपत्न (अस्मद्-अधरे) हमारे से नीचे (भवन्तु) हों (उत्तम नाकं) उत्तम आनन्द मय स्थान पर (इमं अधिरोहय) इस को चढ़ाओ।

जिस गर्भ में सत्कार संगति और उपकार होता है, उस कर्म को यज्ञ कहते हैं। मन और बुद्धि की तेजस्विता वर्चः

नाम से प्रसिद्ध है। "रायस्पोष" शब्द दुनयावी उन्नति का बोधक है। और "चित्त" शब्द चिति शक्ति या ज्ञान-शक्ति को बताता है। इन चार बातों की ओर मनुष्य को ध्यान देना उचित है। इस मंत्र में सपत्न शब्द विशेष महत्व रखता है। एक पुरुष की दो पत्नियों में जो संतान होते हैं वे परस्पर सपत्न कहते हैं। यहां जीवात्मा की धर्म भावना और पाप वासना ऐसी दो पत्नियां हैं। धर्म विचार और पाप विचार ये इनके संतान हैं। इनमें सपत्न-भाव है। वेद में सदा सत्य धर्म का वर्णन है, इसलिये सपत्न शब्द से पाप विचार और धार्मिक विचार ही लिये जाते हैं। वेद में सपत्नों का वर्णन अनेक स्थानों पर आया है। वहां भाई भाई के युद्ध का आशय नहीं है, परन्तु हीन वासना और सद्भावना के युद्ध का वर्णन है। इसी अर्थ में "भ्रातृव्य" शब्द विशेष कर यजुर्वेद में आता है। दो भाइयों के लड़के परस्पर भ्रातृव्य होते हैं। धर्म और अधर्म ये दो भाई हैं,इनकी संतान परस्पर भ्रातृव्य हैं। इन का युद्ध सदा मन के कुरुक्षेत्र में चलता रहता है। एक ओर धर्मराज और दूसरी ओर अंधा राजा है। इनकी संतान सदा लड़ती रही हैं। वेद में भ्रातृव्य शब्द से अधर्म की संतानों का ही बोध होता है। यह बात कभी भूलना नहीं चाहिए। अन्यथा वेद मंत्रों का अर्थ समझ में ही नहीं आयेगा। वेद पथगामी धार्मिक लोक जिन भ्रातृव्यों का अथवा सपत्नों का वध करना चाहते हैं, उन में दस्युभावों की गिनती होती है। "क्षुद् वै भ्रातृव्यः।" ऐसा शतपथ में

कहा है। भूखापन ही भ्रातृव्य है। भूखापन से सब दस्युभाव जागते हैं। समाधान वृत्ति से भूखापन का नाश करना चाहिए।

भ्रातृव्य और सपत्न कौन है, इस की कल्पना निम्न शब्द गण को देखने से होगीः—

सपत्न और भ्रातृव्य।

उच्च वृत्ति (आत्मा)	हीन वृत्ति
धर्म	अधर्म
पुण्य	पाप
ज्ञान सहित विश्वास	अंधा विश्वास
समाधान वृत्ति	असमाधान वृत्ति
शांति	क्षुध् (भूखापन)
तृप्ति	तृष्णा
निर्लोभ वृत्ति	लोभ
निष्काम	काम
शांतता	क्रोध
सुविचार	मोह
निगर्वीपन	मद, घमंड
पुरुषार्थ	आलस

इस प्रकार विचार करने से सपत्नों और भ्रातृव्यों का पता लग जायेगा। समाज में इन गुणों को धारण करने वाले परस्पर सपत्न तथा भ्रातृव्य हुआ करते हैं। व्यक्ति के अंदर जो गुण होते हैं वेही गुणधारी पुरुष समाज में होते हैं।

इस मंत्र में "नाक" शब्द सुख का वाचक है, इस का उत्तम विशेषण सुख के तीन प्रकार बताता है:—

उत्तमं नाकं-सात्विक सुख-उच्च अवस्था।
उत्तरं नाकं-राजासिक सुख-मध्यम अवस्था।
अधमं नाकं-तामसिक सुख-अधम अवस्था।

इनका वर्णन गीता में विशेष रीति से आया है। राजस और तामस अवस्थाओं में दोष होते हैं। सात्विक अवस्था दोष रहित है, इस लिये इसी की प्राप्ति करने का यत्न करना चाहिए।

१०६ कपटी और असत्य भाषण से बन्धन।

यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु।
राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम्॥

अथर्व० १।१०।३।

अर्थ-(यत्) जो (वहु) बहुत (अनृतं) असत्य और (वृजिनं) कुटिल भाषण (जिह्वया) जिह्वा से तूने (उववथ) बोला है। उस पाप से (सत्य धर्म्मणः राज्ञः वरुणात्) सत्य नियम पालन करने वाले वरुण अर्थात् स्वीकार योग्य सब के राजाधिराज ईश्वर की दया से (अहं त्वा मुंचामि) मैं तुम को छुड़ाता हूं।

यह आप्त गुरु का वचन है। महात्मा पुरुष धर्मोपदेश द्वारा मनुष्यों को पाप से बचाता है। ईश्वर के सब नियम सत्य हैं कभी उन में भेद नहीं होता। इसलिये जो असत्य बोलता है और कपट करता है वह न्यायी ईश्वर के पाशों से बांधा जाता है। ये वरुण के पाश इस संसार में चारों फैले हैं। जो मनुष्य जहां पाप करता है, उस को वहां ही बांधा जाता है। यही बंधन है। उन पाशों से छुड़वाने का कार्य महात्मा पुरुषों का है। धर्मोपदेश द्वारा बंधन में फंसे हुए मनुष्यों को बंधन मुक्त करने का कार्य ये लोग करते हैं। पापों का क्षय उन के फल भोगने से ही होता है। परन्तु बंधन में आये हुए पुरुष को सत्य ज्ञान का उपदेश करके भविष्य काल में पापों से बचाने का कार्य उपदेशों द्वारा होता है। वासना शुद्धि अथवा चित्त की शुद्धि महात्माओं के उपदेश से ही होती है।

१०७ गोहत्या के लिए दण्ड।

यदि॑ नो॒ गां हंसि॒ यद्यश्वं॒ यदि॒ पूरु॑षम्।
तं त्वा॒ सीसे॑न विध्यामो॒ यथा॒ नोऽसो॒ अवीर॑हा॥

अथर्व० १।१६।४।

अर्थ—(यदि) यदि (गां हंसि) गौ का वध करोगे (यदि अश्वं) यदि घोड़े का वध करोगे तो (तं त्वा) तुम को हम (सीसेन विध्यामः) सीसे से मार डालेंगे (यथा) जिस से (नः) हमारे अन्दर (अ-वीर-हा) निर्बलों का हनन करने वाला (असः) तू होगया वैसा कोई भी न होसके।

[गौ, घोड़ा और मनुष्य के वध के लिए सीसे से वेध करने का दंड इस मन्त्र में कहा है। सीसे से मारने का मतलब बन्दूक की गोली से हो अथवा किसी और प्रकार से सीसे का प्रयोग करके हो। वेद के किसी स्थान पर इस का अधिक स्पष्ट प्रकरण मैंने अब तक नहीं देखा। "विध्यामः" शब्द निशान का वेध करने का भाव बताता है। उक्त हिंसा करने पुरुष का निशान करके सीसे के द्वारा उस का वेध करना इस मन्त्र में लिखा है। गाय की कितनी योग्यता समझनी चाहिए, इस का ज्ञान इस मन्त्र

से स्पष्ट होता है । "अ-वीर-हा" शब्द का "जो शूर नहीं, उस का वध करने वाला" यह अर्थ है । यह शब्द निन्दा अर्थ में यहां प्रयुक्त है। युद्ध में वीरों का वध करना युद्ध धर्म है। परन्तु गाय घोड़े और साधारण मनुष्यों का वध करना कोई शौर्य कार्य नहीं । किसी को भी ऐसा करना उचित नहीं।

१०८ क्रोध का नाश।

यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रति चक्षणे वा। सर्वं तद्वाचाप हन्मो वयं देवस्त्वा सविता सूदयतु ॥

अथर्व १।१८।३

अर्थ-(यत्) जो कुछ (ते आत्मनि) तेरे आत्मा में (तन्वां) शरीर में (घोरं अस्ति) क्रूरता है, (यद्वा) अथवा जो कुछ (केशेषु) तेरे भावों में (वा) अथवा (प्रति चक्षणे) प्रत्येक दृष्टि में क्रूरता है ।(तत् सर्वं) वह सब (वयं) हम (वाचा) वाणी से (अप हन्मः) नाश करते हैं। (त्वा) तुझे (सविता देवः) सब का उत्पन्न-कर्ता देव (सूदयतु) अच्छी प्रेरणा करे।

"घोर" शब्द क्रूरता का वाचक है। 'तनू' शब्द शरीर के अवयवों वा स्थूल सूक्ष्म आदि देहों का बोध करता है। केश शब्द किरणों का वाचक है। आत्मा की किरण आत्मा के भाव ही होते हैं। उत्तम पवित्र वाणी से इस क्रूरता का नाश करना है। क्रूर पुरुष की क्रूरता उस के सब अंगों से और सब भावों से टपकती है। अच्छी वाणी अर्थात् मधुर शांति उत्पन्न करने वाली सुविचारमय वाणी से ही उस क्रूरता का नाश होता है। और साथ साथ परमेश्वर की प्रेरणा की सहायता भी चाहिए। गुरु मन्त्र में "धियो यो नः प्रचोदयात्" (जो हमारी बुद्धियों को प्रेरणा करता है) ऐसा कहा है, उस का इस मन्त्र के साथ विचार करना आवश्यक है।

१०९ लाल रंग से चिकित्सा।

अनु सूर्यमुदयतां हृद्योतो हरिमा च ते।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि॥

(अथर्व० कां १ सू० २२। १)

अर्थ–(सूर्य) सूर्य का उदय होते ही (अनु) पश्चात् (ते हृद्योतः) तेरे हृदय की बीमारी (च हरिमा) और तेरा पीला पन (अनु उदयतां) पीछे

हट जाय। (तेन गो-रोहितस्य वर्णेन) उस किरणों के लाल वर्ण से (त्वा) तुमको (परि दध्मसि) चारों ओर से वेष्टित करता हूं।

इस मन्त्र में गो शब्द किरण वाचक है। किरणों के अन्दर सात रंग होते हैं यह बात " सप्त रश्मि " इस सूर्य के नाम से सिद्ध है। उन सात रंगों में एक लाल रंग है जिस को रोहित वर्ण कहते हैं। इसी को लोहित वर्ण भी कहते हैं। रक्त वर्ण इसी का नाम है। जिस में लोहा है उस को लोहित कहते हैं। अर्थात् लोहे का खून के लाल वर्ण के साथ नित्य सम्बन्ध होगया। सूर्य किरण से लाल रंग के प्रकाश को लेकर उस लाल रोशनी को चारों ओर से शरीर पर डालने से पीलापन, पांडुरोग, कामला, फीका चेहरा होना तथा हृदय के रोग दूर होते हैं। यह इस मन्त्र का भाव है। चारों ओर से सूर्य किरण लाल रंग के शीशों में से लेकर, उस लाल रंग के किरणों में बीमार को बिठलाने से उस की बीमारी हटेगी ऐसा बोध यहां होता है। सूर्य की किरणें लाल शीशे में से आनी चाहिए और उन का शरीर के साथ सम्बन्ध होना चाहिए। यह मन्त्र वर्ण चिकित्सा की कल्पना बताता है।

लाल वस्त्र परिधान करना, लाल रंग के मणी अथवा लाल जेवर पहनना, लाल चंदन लगाकर धूप में बैठना, लाल शीशों के छत के नीचे धूप के समय बैठना, लाल रंग के गाय का दूध पानी, लाल बोतल में पानी भरकर उस

को धूप में रखकर उस का सेवन करना इत्यादि प्रकार से पीलेपन की निवृत्ति होनी संभव है।

लाल रंग शरीर का पीलापन हटाकर उस में सुर्खी-लाली-लाने वाला है, इसी प्रकार * नीला रंग कमज़ोरी उत्पन्न करने वाला है ऐसा प्रतीत होता है। इस से ऐसा प्रतीत होता है कि कमज़ोर निस्तेज मनुष्यों को उचित है कि वे लाल रंग के कपड़े पहने तथा जिन के अंदर खून बहुत है, उन को उचित है कि वे नीले रंग के कपड़े पहने यदि इस के विरुद्ध बात की जाय तो हानी होगी। उक्त मंत्र से ये विचार सूझे हैं। इस कथन के लिये मेरे पास कोई शास्त्र प्रमाण नहीं। स्वाध्याय शील पाठकों को उचित है कि वे इस का अनुभव लेले तथा वैद्यों को चाहिए कि इस प्रकार वर्ण प्रयोग करके अनुभव देख ले।

---

* यह प्रायः बहुतों का ख्याल है कि मुंद्री में नीला पत्थर किसी को लाभ देता है और बहुतों को हानी पहुंचाता है। कई समझते हैं कि यह अंधा विश्वास है। परन्तु यदि लाल रंग की किरण खून में सुर्खी लाने में और रोग हटाने में समर्थ है तो नीले रंग की किरण में उस के विरुद्ध गुण क्यों न होंगे ? नीला रंग पित्त को कम करता है, पाचन शक्ति कम करता है, कमज़ोरी लाता है। इस लिये जो पहिले ही फीके खून वाले लोक हों उन को नीला पत्थर, नीला कपड़ा, नीली गाय का दूध, घी आदि सेवन नहीं करना चाहिए।

११० लाल वर्णों से दीर्घ आयु।

परिं त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वायं दध्मसि।
यथा॒यमं॑रपा असदथो अहंरितो भुवंत् ॥२॥

अर्थ—(दीर्घायुत्वाय) आयु दीर्घ करने के लिए (त्वा) तुझे (रोहितैः वर्णैः) लाल रंगों से (परि दध्मसि) चारों ओर से वेष्टन करता हूं। जिस से (अयं) यह बीमार (अरपाः) रोग रहित (असत्) होगा (अथो) और (अ-हरितः) पीलक से रहित (भुवत्) होगा।

लाल रंग के किरण शरीर के चारों ओर लगने से बीमारी जो पूर्व मन्त्र में कही है, हटती है और पीलक दूर होती है। तथा आयु दीर्घ होती है। यह रक्त किरणों का स्नान दीर्घायु करने वाला है। इस दीर्घायुष्करण से सिद्ध होता है कि आयु अल्प भी हो सकती है और दीर्घ भी हो सकती है। दीर्घ आयु करना यदि असम्भव होता तो यह सूक्त ही वेद में न आता। रक्त कम होने से तथा दोषयुक्त होने से मनुष्य पीला होता है तथा हृदय की व्याधियां अनेक कारणों से उत्पन्न होती हैं। इन सब रोगों के शमन के लिए लाल रोशनी का स्नान योग्य है।

१११ लाल गौवें।

या रोहिणीर्देवत्याः गावो या उत रोहिणीः।
रूपं रूपं वयो वयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि॥३॥

अर्थ–(याः) जो (रोहिणीः) लाल वर्ण युक्त (देवत्याः) दिव्य गुण युक्त (गावः) गौवें हैं और (या उत) जो (रोहिणीः) केवल लाल रंग की गौवें हैं (रूपं रूपं) प्रत्येक आकार को और (वयः वयः) प्रत्येक आयु को (ताभिः) उन लाल गौवों से (त्वा) तुझे (परि) चारों ओर से (दध्मसि) धारण करते हैं।

दो प्रकार की गौवें होती हैं एक केवल लाल रंग वाली होती है और दूसरी लाल रंग के साथ दूसरे रंग से युक्त होती हैं। ये दोनों प्रकार की गौवें यहां अभीष्ट हैं। अन्य नीले आदि रंग की गौवें उक्त रोगियों के लिए उपयोगी नहीं। गो शब्द से यहां गाय के दूध, घी, मक्खन, दही आदि पदार्थ हैं। उक्त प्रकार के रोगी को दूध, दही आदि पदार्थ देने हों तो लाल रंग के गाय के ही देने चाहिए। क्योंकि उस गाय के दूध में लाल रंग के सब गुण आते हैं गाय पर सूर्य किरण गिरते हैं और उस का परिणाम दूध पर होता है। फीके चेहरे वाले लड़कों को लाल गाय का

दूध पिलाना चाहिए। माता को चाहिए कि वह लाल वस्त्र परिधान करे ताकि माता का दूध भी उस गुण से युक्त होवे। प्रत्येक अवस्था में और प्रत्येक आयु में उक्त बीमारों को इन गौवों के दूध आदि से ही लाभ होता है।

किस लड़के को अथवा किस मनुष्य को किस वर्ण के गाय का दूध देना उचित है, इस का विचार इस मन्त्र से होसकता है। जो लड़के अथवा जो मनुष्य पीले हो रहे हों अथवा जो रक्त की व्याधि से रोगी हों उन को लाल रंग वाली गौ का दूध देना चाहिए। जो बहुत बलवान हों और रक्त बढ़ने के कार . जिन को व्याधि होती हो उन को नीले अथवा काले वर्ण की गाय का दूध लाभदायक होगा अन्यों को अन्य वर्ण की गाय का दूध देना योग्य होगा।

इस से प्रतीत होता है कि गाय के रंग का विचार न करते हुए बीमार को दूध देने से कितनी हानि होने की सम्भावना है। पांडुरोग वाले बीमार को नीली गाय का दूध हानिकारक होगा और पित्त विकार से जो बीमार है, उस को लाल गाय का दूध हानिकारक होगा।

क्रमशः लाल वर्ण पित्त को बढ़ाता है, नील वर्ण कफ को बढ़ाता है और पीतवर्ण वात को बढ़ाता है ऐसा प्रतीत होता है। यह विचार जैसा सूझा है, वैसा ही लिखा है विद्वान् वैद्यों को चाहिए कि वे इस का विशेष प्रयोग करके सत्य का निश्चय करें।

युरोप में "वर्ण-चिकित्सा" (Chromopathy) प्रारम्भ हुई है। इस समय कई प्रकार के अनुभव युरोप के वैद्य ले रहे हैं। बम्बई में भी एक वैद्य ने वर्ण-चिकित्सा जारी की है। इन के अनुभव देखने से विदित होता है कि यह चिकित्सा भी बहुत लाभदायक है।

११२ पापियों का नाश।

न बहवः समशकन्नार्भका अभि दाधृषुः।
वेणो रद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः॥

[अथर्व० ।१।२७।३।]

अर्थ-(बहवः) बहुत (अघायवः) पापी लोक (न समशकन्) शक्ति हीन होगये। कई (अर्भकाः) दुबले होकर (न अभि दाधृषुः) सब प्रकार से ठहर न सके। (वेणोः अद्ग्राः) नरसल के टुकड़े (इव अभितः) जिस प्रकार सब ओर से नाश होते हैं, उसी प्रकार जो (अघ-आयवः) पापी जीवन व्यतीत करते हैं वे कभी (अ-समृद्धाः) समृद्ध नहीं होते।

इस मन्त्र में पापियों का क्या परिणाम होता है इस का वर्णन किया है, अघायु (अघ-आयु) शब्द का अर्थ यह है कि जिस का अघ अर्थात् पाप से आयु भरा हो।

जो सदा पाप का आचरण करता है । पापी लोगों के परिणाम निम्नलिखित होते हैं:—

(१) पापी शक्तिहीन होते हैं, (२) पापी अन्त तक अच्छी अवस्था में रह नहीं सकते, (३) और पापियों की समृद्धि चिरकाल रहने वाली नहीं होती, यह नियम जैसा व्यक्ति में वैसा ही राष्ट्र में देखा जाता है, अर्थापत्ति से यहां ३ उपदेश मिलते हैं'

(१) पुण्य से शक्ति बढ़ती है। (२) पुण्य से सदा अच्छी अवस्था में रह सकता है। पुण्य से समृद्धि प्राप्त होती है और सदा रहती है।

११३ अग्नि के गुण ।

उप प्रागा॑द्दे॒वो अ॒ग्नी र॑क्षो॒हाऽमी॑व॒चात॑नः ।
द॒हन्नप॑ द्व॒यावि॑नो यातु॒धाना॑न्किमी॒दिनः॑ ॥

[अथर्व० १।२८।१]

अर्थ—(रक्षो-हा) राक्षसों का नाश कर्ता (अमीवचातनः) रोगों को दूर करने वाला (देवः अग्निः) दिव्य अग्नि (उप-प्र-आगात्) पास आया है। (यातुधानान्) यातुधान और (किमीदिनः) विनाशक (द्वयाविनः) इन दोनों को (अपदहन्) जलाता है।

इस मंत्र में अग्नि के गुण वर्णन किये हैं। (१) अग्नि रोगों को दूर करता है। 'अमीव' शब्द का अर्थ विविध प्रकार के रोग हैं। 'रक्षः' शब्द * रोग-जन्तुओं का वाचक है। जो रोग-जन्तु प्रथम अवस्था में रक्षक होते हैं, परन्तु दूसरी अवस्था में रोग उत्पन्न करके भक्षक होते हैं; उनका बोध रक्षस् शब्द से होता है। रक्षः शब्द का पहिला अर्थ रक्षा करने वाला है और दूसरा अर्थ नाश करने वाला है। यातु-धान शब्द उन रोग-जंतुओं का बोधक है कि जो धान्य के=अन्न के द्वारा पेट में जाकर रोग उत्पन्न करते हैं। 'किमीदिन' शब्द से वे रोग के कीड़े समझने चाहिए कि जो शरीर में सडान उत्पन्न करते हैं। इनका प्रवेश शरीर में होने से प्रतिदिन शरीर सड़ने लगता है। इन सब क्रिमियों का नाश अग्नि से होता है। हवन की आवश्यकता क्या है? इस का उत्तर इस मंत्र में दिया है। घी का गुण पूर्व मंत्र में कहा है कि वह विषहारक है। (पृ०१६९) अग्नि में विषहारक घी जलाने से हवा में जो विष हो उस का नाश होना संभव है।

---

* इस विषय के "वेद में रोगजन्तु-शास्त्र" नामक पुस्तक देखिए। आर्य पुस्तकालय लाहौर से मिलता है।

११४ दुष्टों का नाश।

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति॥

अथर्व० १।२९।२

अर्थ-(सपत्नान्) सपत्नों को (अभिवृत्य) घेर कर (नः याः अरातयः) जो हमारे शत्रु हैं, उन को (अभि) चारों ओर से घेर कर, जो (पृतन्यन्तं) सैन्य के बल से हमारा नाश करता है और (यः) जो (नः दुरस्यति) हमारी दुःखदायक अवस्था करता है, उस को (अभि अभि तिष्ठ) चारों ओर से घेर लो।

सपत्न शब्द का अर्थ मंत्र अथर्व० १।९।४ पृ० १७८की व्याख्या पर देखिए। मन में जो कुत्सित विचार आते हैं, उनका बोध इस शब्द से होता है। राष्ट्र में मत्सर ग्रस्त पुरुष, जो दूसरों की उन्नति सहन नहीं करते उन का भी बोध हो सकता है। एक सम्राट् के आधीन दो राष्ट्र हों और उन में से कोई एक राष्ट्र दूसरे की उन्नति न चाहता हो तो उस प्रति रोधक राष्ट्र को सपत्न शब्द लग सकता है। अ-राति शब्द दान न करने वाले, परोपकार हीन स्वार्थी भोगी पुरुषों का बोध करता है। 'पृतन्यन्त' शब्द फ़ौज़ के बल से दुर्बल राष्ट्रों का घात करने वाले दुष्ट राजाओं का बोध

होता है। दुरस्यति शब्द से सब प्रकार के दुःखकारक अवस्थाओं में डालने वाले का बोध होता है। ये सब दुष्ट हैं और इन सब को दण्ड देना चाहिए।

११५ पूर्ण आयु।

ये देवा दिवि ष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष
ओषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः। ते कृणुत जरस-
मायुरस्मै शतमन्यान् परि वृणक्तु मृत्यून्॥

(अथर्ववेद १। ३०। ३)

अर्थ-(ये देवाः) जो देव अर्थात् दिव्य गुण (दिवि स्थ) द्युलोक में आकाश में रहते हैं (ये पृथिव्यां) जो पृथिवी में है (ये अन्तरिक्षे) जो अन्तरिक्ष में हैं (ओषधीषु पशुषु अप्सु अन्तः) वनस्पतियां, पशु और जल में जो हैं (ते) वे सब दिव्य गुण (अस्मै) इस बीमार को (जरसं आयुः) पूर्ण आयु (कृणुत) करें तथा यह बीमार (शतं अन्यान् मृत्यून्) सौ दूसरे मृत्युओं के (परि वृणक्तु) पार होवे।

सृष्टि के सब पदार्थों में जो दिव्य गुण होते हैं, उन को देव कहते हैं। उन दिव्य गुणों की धारणा करने से पूर्ण आयु प्राप्त होती है। परन्तु जो सात्विक दिव्य गुणों की

धारणा न करेगा, उस की आयु घटेगी। "जरसं आयुः" शब्द का अर्थ बुढ़ापे तक चलने वाली अर्थात् अपमृत्यु से रहित पूर्ण आयु है। इस मंत्र में देव शब्द दिव्यशक्ति, दिव्य गुण, उत्तम सात्विक गुण इसी अर्थ में आया है। देव शब्द से शरीर धारी देवताओं का बोध ही होता है, ऐसा जो ख्याल रखते हैं, उन को उचित है कि वे इस मंत्र के इस देव पद पर अच्छी प्रकार विचार करें।

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवाना-
मोजः प्रथमजं ह्ये३तत्। योबिभर्ति दाक्षा-
यणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः॥
(अथर्व० १।३५।२)

अर्थ-(एनं) इस तेज को (न रक्षांसि) न राक्षस (न पिशाचाः) और न पिशाच (सहन्ते) सहते हैं (हि) क्योंकि (एतत्) यह (देवानां प्रथमजं ओजः) देवों से पहिले जन्मा हुआ तेज है। (यः) जो (दाक्षायणं हिरण्यं) दाक्षिण्य युक्त तेज (बिभर्ति) धारण करता है (सः) वह (जीवेषु) जीवों में (दीर्घ आयुः) दीर्घ आयु (कृणुते) करता है।

दक्षता और तेजस्विता इन दो गुणों से आयु की वृद्धि होती है। देवों अर्थात् इंद्रियों में इस प्रकार का ओज दक्षता

के कारण ही उत्पन्न होता है। जब दाक्षिण्य, तेज और ओज उत्पन्न होता है तब उस को राक्षसादि दुष्ट=दस्यु मनुष्य सहन नहीं कर सकते। दक्षता युक्त व्यवहार करने वाले से वे दूर भागते हैं।

११६ एकरूप विश्व।

वेनस्तत् पंश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्। इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः॥

अथर्व० २।१।१।

अर्थ–(वेनः) ज्ञानी मनुष्य ने (तत परमं) उस श्रेष्ठ ब्रह्म को (पश्यत) देखा। (यत) जो (गुहा) (गुप्त) है। और (यत्र) जहां (विश्वं एकरूपं) सब जगत एक रूप होता है। (इदं) यह ज्ञान (पृश्निः) प्रकृति ने (अदुहत) दोहन किया है। (जायमानाः) जन्म लेने वाले और (स्वर्विदः) ज्ञान को जानने वाले (व्राः) पुरुषार्थी लोक (अभ्यनूषत) ऊपर उठते हैं।

ज्ञानी मनुष्य ही परमेश्वर की वास्तविक अवस्था को जानता है। परमेश्वर सर्वत्र गुप्त है और उस में सब संसार

एक-रूप होकर मिला है। विश्व के ज्ञान से जीव को प्रकृति के कई गुणों का पता लग सकता है। पुरुषार्थी लोग हीं सत्य ज्ञान को जानते हुए अपनी उन्नति का मार्ग आक्रमण करते हैं।

११७ परम-धाम।

प्रतद्वोचेदमृतस्य विद्वान् गंधर्वो धाम परमं गुहा यत्। त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्॥

अर्थ–(अमृतस्य विद्वान् गन्धर्वः) अमरपन का ज्ञाता पवित्र आत्मा (तत् प्रवोचेत्) उस का वर्णन करे कि (यत्) जो (परमं धाम) परमधाम (गुहा) गुप्त है। (अस्य) इस के (त्रीणि पदानि) तीनों पांव (गुहा निहितानि) गुप्त रखे हैं। (तानि यः वेद) उन को जो जानता है (स पितुः पिता असत्) वह पिता का पिता अर्थात् पालक का पालक होता है।

गंधर्व शब्द का अर्थ ज्ञानी, पवित्र आत्मा, भक्त ऐसा इस मंत्र में है। इस शब्द के अन्य अर्थ गवय्या, सोम का रक्षक, सूर्य आदि हैं। परमधाम जो ईश्वर का रूप है, वह गुप्त है। गुहा शब्द गुप्त स्थान के लिये आता है। यहां

पहाड़ों की गुफाओं से तात्पर्य नहीं। वेदान्त की परिभाषा में बुद्धि का नाम भी गुहा है। इस परमधाम के तीन पद जो जानता है, वह पालकों का पालक बनता है। अर्थात् उस की योग्यता बड़ी होती है। परमधाम अमृत के स्थान को जानना और अनुभव करना केवल मुक्त अथवा जीवन-मुक्त अवस्था में हो सकता है। इस अवस्था को प्राप्त हुआ हुआ मनुष्य पिताओं का पिता, पालकों का पालक, रक्षकों का रक्षक होता है। परमधाम की प्राप्ति के पश्चात् क्रिया शून्यता नहीं होती, परन्तु पालकों का बड़ा पालक बनने से विस्तृत क्रिया को पार करने की आवश्यकता होती है। निष्क्रियवादी वेदान्तियों को उचित है कि वे इस मंत्र का विशेष विचार करें।

यहां तीन पदों से तात्पर्य तीन अजों का है, ऐसा कई कहते हैं। अज ईश्वर, अजा प्रकृति और अज जीव ये तीन ही गुप्त हैं और जानने योग्य हैं। पुरुष-सूक्त में जो त्रिपाद् पुरुष का वर्णन आया है, यहां देखने योग्य है।

पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि।
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः॥

ऋ० १०। ९०। यजु० अ० ३१।

"इस का एक पाद (चौथा हिस्सा) सब विश्व है और इस के शेष तीन पाद द्युलोक में अमृत हैं। यह त्रिपाद् पुरुष उच्च स्थान में उदित होता है और इस का एक भाग यहां संसार में पुनः पुनः होता है"।

यहां पाद, भाग अथवा अंश शब्द कोई हिस्से के अर्थ में नहीं। विश्व जो दिखाई देता है वह इस के एक अंश में है, विश्व के बाहर इस की व्याप्ति बहुत है; यह भाव यहां है। इस वचन के साथ इस मंत्र का विचार करना उचित है।

तीन गुप्त पद से तात्पर्य क्या है? यह बात विचारने योग्य है। ओंकार के चार पाद हैं, आकार, उकार, मकार और चतुर्थ अर्द्धमात्रा पाद। अकार जागृत स्थान विश्वरूप है, उस को छोड़ा जाय तो शेष तीन पाद ही तीन गुप्त स्थान हैं ऐसा मुझे प्रतीत होता है। स्वाध्यायशील विद्वान् इस का अधिक विचार करेंगे।

११८ परमेश्वर से प्रश्न पूछना।

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा॥३॥

अर्थ-(सः नः पिता) वह हमारा पिता है। (जनिता) उत्पन्न कर्ता है। (उत सः बन्धुः) और वह भाई है। (विश्वानि भुवनानि धामानि) सब भुवन और सब स्थान वह (वेद) जानता है। (यः)

(देवानां नामधः) देवताओं का यश धारण करता है और जो (एकः एव) एक ही है। (तं) उस के पास (प्रश्नं) प्रश्न पूछने के लिए (सर्वाणि भुवनानि) सब भुवन (सं यन्ति) मिल कर जाते हैं।

वह परमेश्वर सब का पिता, जनक और भाई है, सब अवस्थाओं को और सब बातों को वही अच्छी प्रकार जानता है। देवताओं में यश की स्थापना वही करता है। अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवों में जो अद्भुत शक्तियां हैं, उन की स्थापना उसी ने की है। यहां नाम शब्द यश का वाचक है। प्रत्येक पदार्थ में जो शक्ति है, वह ईश्वर की रखी है। अनेकों में विलक्षण शक्ति रखने वाला वह एक ही है। जिस समय सच्चा ज्ञान मिलने के लिये कोई प्रश्न पूछने की इच्छा होती है; उस समय उसी से प्रश्न पूछना चाहिए। सब ज्ञानी उसी से पूछते आये हैं। यहां का भुवन शब्द मनुष्य वाचक है क्योंकि प्रश्न पूछने का संबंध आया है। भुवन शब्द का "मनुष्य, मनुष्य-जाति" ऐसा अर्थ भी है। और उत्पन्न हुआ पदार्थ, प्राणिमात्र ऐसा भी अर्थ है।

११६ अमृत का धागा।

परि विश्वा भुवनान्यायन्नमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् । यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥

अर्थ–(अमृतस्य) अमृत के (विततं कं तन्तुं) फैले हुए आनन्दमय तन्तु=धागे को (दृशे) देखने के लिए (विश्वानि भुवनानि) सब भुवन-मनुष्य (परि आयन) चारों ओर गमन करते हैं। और वे (यत्र) जहां (अमृतं आनशानाः) अमरपन का आस्वाद लेने वाले (देवाः) देव अर्थात् ज्ञानी पुरुष रहते हैं, उस (समाने योनौ) समान उत्पत्ति स्थान में (अध्यैरयन्त) उच्च होकर जाते हैं।

अमृत का फैला हुआ धागा परमात्मा=सूत्रात्मा है। जिस का वर्णन पहिले आ चुका है । "कं" शब्द बताता है कि वह तन्तु आनंद-रूप है। उस को ढूंढने के लिये सब मनुष्य चारों ओर दौड़ रहे हैं, परन्तु वह धागा सब के अंदर से पोया हुआ है। अर्थात् सब के अंदर आधार रूप से विद्यमान है। वही अमृत का स्थान है। जो उस को प्राप्त करता है, वह देव बनकर अमृत का आनंद लेता है। और जो उस की प्राप्ति करता है, वह सब के एक ही उत्पत्ति स्थान में (In common birth place) उच्च होता हुआ पहुंचता है। सदाचार से ऊपर उठता हुआ मनुष्य ऐसे स्थान पर पहुंचता है कि जहां से सब का उद्गम हुआ है।

—:०:—

१२० दिव्य देव को नमस्ते ।

दिव्यो गंधर्वो भुवनस्य यस्पतिरेकं एव
नमस्यो विक्ष्वीड्यः । तं त्वा यौमि ब्रह्मणा
दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥

(अथर्व० २।२।१)

अर्थ—(दिव्यः गन्धर्वः) दिव्य महान् आत्मा (यः भुवनस्य एकः एव पतिः) जो सृष्टि का एक ही स्वामी है, वही (विक्षु ईड्यः) सब प्रजाओं में स्तुति करने योग्य और (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है। हे (दिव्य देव) दिव्य ईश्वर ! (ते दिवि सधस्थं) तेरा प्रकाश लोक में स्थान है । (ते नमः अस्तु) तेरे लिए नमस्कार हो । मैं (तं त्वा) उस तेरे पास (ब्रह्मणा) यौमि) ब्रह्म अर्थात् ज्ञान के साथ संयुक्त होता हूं ।

परमेश्वर सब संसार का एक मात्र पालक है । वही उपास्य पूजनीय और वंदनीय है । उस की नम्र-भाव से भक्ति करनी चाहिए । 'ब्रह्मणात्वायौमि' (ज्ञान के द्वारा तेरे साथ मिलता हूं) यह उपदेश ज्ञान से परमेश्वर के साथ योग होता, है ऐसा भाव बता रहा है, ऐसा कई समझते हैं,

परन्तु यदि वे "यौमि" क्रिया का भाव ध्यान में लेंगे तो उन को विदित होगा कि योग अर्थात् कर्म का भी ज्ञान के बराबर ही उस में हिस्सा है। "ब्रह्म" शब्द के अर्थ "ज्ञान, भक्ति स्तुति प्रार्थना, ओंकार, ओं, वेदशास्त्र, आत्मिक-ज्ञान, ब्रह्मचर्य, पवित्रता, तप, परब्रह्म, अन्न, दान" इतने हैं। ये अर्थ ध्यान में लेने से पता लगता है कि "ब्रह्म के द्वारा मैं तेरे साथ मिलता हूं" इस का कितना गंभीर अर्थ है। इस से स्पष्ट होता है कि केवल ज्ञान से ईश्वर के साथ मिलना नहीं होगा, परन्तु साथ साथ ब्रह्मचर्य, तप, दान आदि की भी आवश्यकता है।

१२१ अपने घर में जागृत रहो।

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः। सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद् भव स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन् ॥

अथर्व २।६।३

अर्थ—हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष ! (इमे ब्राह्मणाः) ये ज्ञानी लोक (त्वां वृणते) तुझे स्वीकारते हैं। हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष ! (नः संवरणे) हमारे गुप्त विचार में (शिवः भव) तू कल्याणकर्ता हो। हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष ! तू (सपत्न-हा) दुष्ट भावों को तथा

मत्सर-ग्रस्तों को दूर करने वाला तथा (अभिमाति-जित्) उन्नति रोकने वालों को पराजित करने वाला (भव) हो। यथा (अ-प्र-युच्छन्) बीच में न छोड़ते हुए (स्वेगये) अपने घर में (जागृति) जागता रहो।

"(१) विद्वानों की संगति से कार्य करना, (२) गुप्त विचार के समय कल्याणकारक सम्मति देनी तथा गुह्यता की रक्षा करना, (३) उन्नति के विरोध करने वालों का दमन करनी तथा (४) अपने घर में आंख खोल कर जागते रहना" ये चार उपदेश इस मंत्र में दिये हैं।

"अपने घर में जागना" यह उपदेश इतना अच्छा है कि इस से जैसा व्यक्ति का लाभ हो सकता है, उसी प्रकार समाज का, जाति का और देश का लाभ हो सकता है। अपने मकान की रक्षा करने के लिये जो नहीं जागता, उस की दौलत चोर लुटेंगे इस में क्या संदेह है? व्यक्ति का मकान घर है, समाज का मकान समाज मंदिर है और जाति का मकान राष्ट्र है। इन सब की रक्षा जागृत रहने से ही हो सकती है।

१२२ तेजस्विता और मित्रता।

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व। सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥ ४ ॥

अर्थ–हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष ! (स्वेन क्षत्रेण) अपने क्षात्र तेज से (सं रभस्व) उग्र कर्तव्य करो। और हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष ! (मित्रेण) मित्र के साथ (मित्रधा) मित्रता के अनुसार (यतस्व) वर्ताव करो। (सजातानां राज्ञानां) समान जातियों के राजाओं के (मध्यमे-स्थाः) बीच में बैठने वाला होकर (वि हव्यः इह दीदिहि) विशेष स्तुत्य होकर यहां चमकता रहो।

राजा का कर्तव्य पूर्व मंत्र में और इस मंत्र में वर्णन किया है। क्षात्र तेज से उग्र कर्म करने चाहिए। मित्रों के साथ मित्रता का व्यवहार रखना अर्थात् शत्रुओं के साथ शत्रुता करनी इतर राजमंडली में तेजस्विता के साथ रहना चाहिए।

१२३ वीर युक्त धन।

अति निहो अति सृधोऽत्यचित्तीरति द्विषः।
विश्वाह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः॥ ५॥

अर्थ–(निहः अति) हिंसकों को दूर कर, (सृधः अति) दुराचारियों को दूर कर, (अ-चित्तीः अति)

अविचारशील मनुष्यों को दूर कर, (द्विषः अति) परस्पर द्वेष बढ़ाने वालों को दूर कर। हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष ! (विश्वानि दुरितानि हि) सब दुष्ट भावों को (तर) तैर कर पार हो। (अथ) और (अस्मभ्यं) हम सब को (त्वं) तू (सह-वीरं रयिं) वीरों के साथ रहने वाला धन (दाः) दो।

हिंसक, दुराचारी, अविचारी, झगडालु, लोगों को समाज से दूर करना राजा का कार्य है। बुरे भावों को दूर करना और अच्छे भावों की स्थापना करना ही ज्ञान प्रचार से साध्य करना है। उस धन की प्राप्ति करना कि जिसके साथ क्षात्र वीर्य के साथ रहने वाले शौर्यादि गुण सदा रहते हैं। किसी के पास धन होगा, परन्तु उस के रक्षण करने की शक्ति यदि उस के पास न होगी तो उस को उस धन से क्या लाभ हो सकता है ? धन का वही उपभोग ले सकता है कि जो उस की रक्षा कर सकता है। इसीलिये "सहवीर रयिंदाः" ऐसी प्रार्थना यहां है। अन्य स्थानों में "वीरवतीं रयिं, सर्ववीरां रयिं, सुवीरां रयिं आभर " ऐसी प्रार्थनाएं हैं। तात्पर्य वीर्य युक्त धन की अभिलाषा करने के लिये वेद प्रेरणा कर रहा है न कि केवल धन की।

१२४ दश मूल की दवा।

दशंवृत्त मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु। अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय॥

अथर्व० २।९।१

अर्थ—हे (दश-वृक्ष) दस प्रकार के वृक्षो ! (यः एनं पर्वसु जग्राह) जो बीमारी इस के जोड़ों में हुई है, उसे (ग्राह्या रक्षसः) न छोड़ने वाली राक्षसी व्याधि से (इमं मुंच) इस बीमार को छुड़ाओ। हे (वनस्पते) हे वनस्पते ! (अथ एनं) अब इस को (जीवानां लोकं उन्नय) जीते लोकों में ले जाओ।

ग्राह्य उस बीमारी को कहते हैं कि जो शरीर के अवयवों के जोड़ों में होती है। संधिवात नाम से वह प्रसिद्ध है। इस को ग्राह्य अर्थात् पकड़ कर रखने वाली इसलिये कहते हैं कि वह जल्दी छोड़ती नहीं। जल्दी आराम नहीं आता। "पर्वसु जग्राह" जोड़ों में पछाड़ने वाली यह बीमारी होती है। दशवृक्षों की दवा से इस व्याधि का नाश होता है। दश मूलों का अरिष्ट, आसव तथा कषाय उपयोग में लाया जाता है। वैद्यों को इस का विशेष विचार करना चाहिए।

१२५ घी और मधु का सेवन।

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने। घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम्॥

अथर्व० २। १३। १

अर्थ—हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष ! तू (आयुः-दाः) आयुष्य अर्थात् आरोग्य देने वाला (जरसं वृणानः) वृद्धत्व का स्वीकार करने वाला (घृत-प्रतीकः)तेजस्वी चेहरे वाला और (घृत-पृष्ठः) तेजस्वी पीठवाला तू है। हे अग्ने ! (घृतं) घी (मधु) शहद=मधु (चारु गव्यं) सुन्दर गाय के दूध के पदार्थ (पीत्वा) पीकर (पुत्रान् पिता इव) लड़कों का पिता जैसा पालन करता है वैसा तू (इमं) इस की (अभि रक्षतात्) सब प्रकार से रक्षा करो।

बल बढ़ने के लिये और आयुष्य बढ़ाने के लिये गाय के दूध के पदार्थ-दूध,दही, घी, मक्खन, लस्सी आदि पदार्थ तथा मधु=शहद खाने चाहिए।

१२६ सात-ऐश्वर्य।

ओजो॒ऽस्योजो॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ १ ॥
सहो॑ऽसि सहो॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ २ ॥
बलं॑मासि बलं॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ ३ ॥
आयु॑स्यायु॑र्मे दाः स्वाहा॑ ॥ ४ ॥
श्रोत्रं॑मासि श्रोत्रं॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥ ५ ॥
चक्षु॑रसि चक्षु॑र्मे दाः स्वाहा॑ ॥ ६ ॥
परि॒पाणं॑मसि परि॒पाणं॑ मे दा स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

[अथर्व० २।१७]

अर्थ–तू ओज है, मुझे ओज दे। मैं त्याग करता हूं। तू सहन शक्ति युक्त है, सहन शक्ति मुझे दे। मैं दान करता हूं। तू बल है, मुझे बल दे। मेरा त्याग तू आयु है, मुझे आयु दे। मेरा दान, तू श्रोत्र है, मुझे श्रवण-शक्ति दे। मैं उत्तम भाव करता हूं। तू चक्षु है, मुझे चक्षु दे। मेरा त्याग तू कवच है, मुझे कवच दे। मेरा स्वार्थ त्याग सफल हो।

ओजस्विता, सहनशक्ति, बल, आयु, श्रोत्र, चक्षु और रक्षक कवच इतने पदार्थ हैं। यही उन्नति के साधक हैं। इनके लिये स्वार्थ त्याग करने की आवश्यकता है, ऐसा प्रतीत होता है। स्व-आ-हा=स्वाहा शब्द का अर्थ स्वार्थ त्याग, अपने पन का त्याग, दान, परोपकार, सेवाभाव हैं। सु-आह =स्वाहा शब्द का अर्थ उत्तम बोलना उत्तम भाषण कहना है।

१२७ खून पीने वाले का नाश।

अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति।
गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च॥
[अथर्व० २।२५।३]

अर्थ—जो (अ-रायं) दान न देने वाला, (असृक् पावानं) खून पीने वाला, (यः च) और जो (स्फातिं जिहीर्षति) उन्नति को रोकता है और (गर्भ-अदं) अण्डे अथवा पक्षियों के बच्चे खाता है, उस (कण्वं) पापी को (नाशय) नष्ट कर। हे (पृश्निपर्णि) वनस्पति तेरा ही (सहस्व) विजय हो।

दान न देने वाला, खून पीने वाला अर्थात् मांसभोजी उन्नति का प्रतिबंध करने वाला, बच्चों का मांस खाने वाला ऐसा जो पापी होता है, उस को समाज में रखना नहीं

चाहिए। वनस्पति का अर्थात् भोजन अथवा शाका-आहार का विजय हो।

१२८ गाय का दूध।

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं॑ रसम्।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नी रिदमस्तकम्॥

[अथर्व० २।२६।५]

अर्थ-(गवां क्षीरं) गौवों का दूध (आ-हरामि) लाता हूं। (धान्यं रसं आहार्षं) धान्य और रस लाया हूं। (अस्माकं वीरा आहृताः) हमारे शूरवीर आगये हैं। (पत्नीः आ) हमारी स्त्रियां आगयी हैं और (इदं अस्तकं) यही हमारा घर यही हमारी पवित्रता है।

जहां हमारे शूरवीर जाते हैं और जहां हमारी स्त्रियां जाती हैं अर्थात् जहां हमारी पवित्रता फैलती है, जहां हमारा घर बनता है वहां गौवों का दूध पीया जाता है और धान्य खाये जाते हैं और वनस्पतियों के रस पीये जाते हैं। अर्थात् आर्यों की वैदिक सभ्यता जहां फैलती है, वहां दूध, धान्यरस का ही सेवन किया जाता है। वैदिक सभ्यता के क्षत्रिय शूरवीर यही भोजन करते हैं।

यह मंत्र वैदिक सभ्यता का भोजन बता रहा है और क्षत्रियों का इस निरामिष भोजन के साथ संबंध जोड़ने के कारण आर्य क्षत्रियों को भी मांस भोजन नहीं होना चाहिए, यह बात सिद्ध होती है। सात्विक ब्राह्मणों और पशु रक्षक वैश्यों के विषय में किसी को संदेह ही नहीं। परन्तु कईयों को यह संदेह है कि शायद क्षत्रियों के लिये मांस भोजन विहित होगा, परन्तु इस मंत्र ने क्षत्रियों का ही निरामिष भोजन के साथ संबंध जोड़ दिया है। पूर्व मंत्र में वनस्पति भोजन का सामान्य विजय कहा ही है।

१२६ विजय प्रार्थना।

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं
द्रविणं सचेतसौ। जयं क्षेत्राणि सहसाय-
मिन्द्र कृण्वानो अन्यान अधरान्त्सपत्नान्॥

[अथर्व० २।२६।३]

अर्थ—(आशीः-नः) हमारी यही इच्छा है कि हमें (ऊर्जं) तेजस्विता (उत सौप्रजास्त्वं) और उत्तम संतान, (दक्षं द्रविणं) बल दाक्षिण्य और द्रव्य प्राप्त हो। (सचेतसौ) उत्तम चित्त वाले दोनों प्रकार के लोक इन को (धत्तं) धारण करें। (क्षेत्राणि) भूमियां (सहसा)

सहन शक्ति के साथ (जयं) जीतें। हे (इंद्र) परम-ऐश्वर्यवान् ! तू (अन्यान् सपत्नान्) ईर्ष्या द्वेष करने वाले दूसरे शत्रुओं को (अधरान्) नीचे (कृरावानः) करने वाले हो।

बल, दक्षता, द्रव्य, उत्तम संतान, उत्तम विचार-शील मन की प्राप्ति करनी चाहिए। "स-चेतसौ" यह द्विवचन है, दो प्रकार के लोगों का इससे बोध होता है, श्रीमान् दरिद्री, छोटे मोटे, ज्ञानी अज्ञानी आदि जो द्विविध लोग होते हैं वे सब इनकी प्राप्ति के लिये यत्न करें यह इस द्विवचन के प्रयोग से ज्ञात होता है। सहन शक्ति के साथ भूमियों का विजय करने की प्रेरणा की है। विजय सदा ही सहन शक्ति के साथ ही हुआ करता है। कष्ट सहन करने की शक्ति जहां न हो वहां विजय के उद्देश से महान कार्य करने भी असंभव हैं। ईर्ष्या द्वेष रखने वाले शत्रुओं के भावों को दबाने का उपदेश सब अवस्था में योग्य है।

१३० विवाह योग्य स्त्री पुरुष।

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम्।
कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे॥४॥
एयमगन् पतिकामा जनिकामोहमागमम्।
अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम्॥५

[अथर्व० २।३०।४-५]

अर्थ-(यत् अंतरं तत् बाह्यं) जो अंदर हो वही बाहर हो और (यत् बाह्यं तत् अन्तरं) जो बाहर हो वही अंदर हो। हे (औष-धे) दोषों को दूर करने वाले ! (विश्वरूपाणां कन्यानां) अनेक सुंदर रूपवाली कन्याओं के (मनः गृभाय) मन का विचार करो। (इयं पतिकाम आ अगन्) यह पती की इच्छा करने वाली आगई है। (जनिकामः अहं अगमम्) स्त्री की इच्छा करने वाला मैं आया हूं। (यथा कनिक्रदद् अश्वः) जैसा हिनहिनाने वाला घोड़ा बलवान् होता है, वैसा (भगेन सह) भाग्य धन के साथ (अहं आगमं) मैं आया हूं।

विवाह के योग्य स्त्री पुरुषों का इस मंत्र में वर्णन है। स्त्री पुरुष आपस में एक दूसरे के साथ अंतःकरण खोल कर खुले दिल से वर्ताव रखें। दोनों का बाहर का और अंदर का बर्ताव एकसा हो अर्थात् कपट न हो। " मनः गृभाय " शब्द मन की परीक्षा करने की सूचना देता है। " गृभाय " का अर्थ learn, approve, consider, grasp निरीक्षण पसंद करो ऐसा है। कन्या का सुंदर रूप के कारण स्वीकार नहीं करना चाहिए, परन्तु उत्तम मन के कारण स्वीकार होना चाहिए। स्त्री के अंदर पुरुष की इच्छा और पुरुष के अंदर स्त्री की इच्छा उत्पन्न होने के पश्चात् विवाह

होना चाहिए और पुरुष को उचित है कि वह विवाह के पूर्व बलवान् और धनवान बने ।

१३१ रोग-जन्तु ।

इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी।
तया पिनाष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वाँ इव॥

[अथर्व० २।३१।१]

अर्थ-(विश्वस्य क्रिमेः) सब क्रिमियों का (तर्हणी) नाश करने वाली (इन्द्रस्य या मही दृषद्) इन्द्र का जो बड़ा पत्थर है (तया) उस से (कृमीन् सं पिनष्मि) कृमियों को नष्ट करता हूं (खल्वान् दृषदा इव) मूंगी को पत्थरों द्वारा जैसा पीसते हैं ।

इन्द्र नाम सूर्य का है और उस का कृमिनाशक बड़ा पत्थर प्रकाश किरण है । प्रकाश से रोग के जंतुओं का नाश होता है । ["दृषद्" पत्थर का वाचक है, परन्तु उस का "दृश्" धातु के साथ भी संबंध हो सकता है । दृश् धातु का अर्थ देखना है । दृषद् शब्द दृ धातु से बनाते हैं, परन्तु दृश् धातु से भी बन सकता है । दृश् धातु से बनने पर उस का अर्थ प्रकाश हो सकेगा ।]

१३२ रोग-जन्तुओं का नाश।

ये क्रिमंयः पर्वतेषु वनेष्वोषंधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः ये अस्माकं तन्वंमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥

अर्थ-(ये क्रिमयः) जो क्रिमि (पर्वतेषु) पहाड़ों पर (वनेषु) वनों में (ओषधीषु) वनस्पतियों में (पशुषु) पशुओं में (अप्सु) पानी में (अन्तः) सब के अंदर रहते हैं और (ये अस्माकं तन्वं) जो हमारे शरीरोंमें (आविविशुः) घुसते हैं (तत सर्वं) वह सब (क्रिमीणां जनिम)क्रिमियों की सब जाति (हन्मि) मैं नष्ट करता हूं।

रोग-जन्तु पहाड़ों, वनों, औषधी वनस्पतियों, धान्यों, पशुओं और पानियों में रहते हैं। वे हमारे शरीरों में घुसते हैं और व्याधियां उत्पन्न करते हैं। "ये अन्नेषु विविध्यान्ति पात्रेषु पिबतो जनान्" (यजुर्वेद) जो क्रिमि अन्न के द्वारा और पीने वाले बर्तनों के पानी के द्वारा लोगों में विशेष व्याधियां उत्पन्न करते हैं। ऐसा रुद्र नाम रोग-जन्तुओं का वर्णन यजुर्वेद में आया है। इस से विदित होता है कि अन्न और पानी विशेष कर शुद्ध करके ही पीना चाहिए।

सूर्य प्रकाश तथा अग्नि शुद्ध कारक हैं, ऐसा अन्य स्थानों के मंत्रों में कहा है। अन्न, पानी, दूध आदि पदार्थ अग्नि द्वारा उष्ण करने से शुद्ध हो सकते हैं।

१३३ सूर्य किरणों से क्रिमियों का नाश।

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः। ये अन्तः क्रिमयो गवि॥

[अथर्व० २।३२।१]

अर्थ-(उद्यन् आदित्यः) उदय होने वाला सूर्य (क्रिमीन् हन्तु) क्रिमियों का नाश करे (निम्रोचन्) अस्त होने वाला सूर्य (रश्मिभिः हन्तु) किरणों से क्रिमियों का नाश करे। (ये क्रिमयः) जो क्रिमि (गवि अन्तः) भूमि और आकाश के अंदर हैं।

इस मंत्र में सूर्य किरणों द्वारा रोग-जन्तुओं का नाश होता है, ऐसा कहा है। इसलिये घर ऐसे बनाने चाहिए कि जिन में सूर्य की किरणें आ सकें। जिस घर में सूर्य किरण नहीं आसकते वह घर आरोग्यता बढ़ाने वाला नहीं हो सकता।

१३४ पति का लक्षण ।

सोमंजुष्टं ब्रह्मंजुष्टमर्यम्णा संभृतं भगंम् ।
धातुर्देवस्यं सत्येनं कृणोमिं पतिवेदंनम् ॥

[अथर्व० २।३६।२]

अर्थ–(सोम-जुष्टं) विद्वानों को पूज्य (ब्रह्म-जुष्टं) ज्ञान से पूज्य, (अर्य-म्णा) श्रेष्ठ मन से जिस ने (भगं संभृतं) धन इकट्ठा किया है, उसी के साथ (पति-वेदनं) पति विषयक भावना (धातुः देवस्य सत्येन) विधाता ईश्वर के सत्य के साथ (कृणोमि) करती हूं ।

जिस का सत्कार विद्वान् करते हैं, जो ज्ञानी होने से सन्मान के योग्य है और जो श्रेष्ठ मन से द्रव्य संग्रह करता है अर्थात् धार्मिक साधनों के साथ जो पैसा कमाता है उसी को पति विषयक भावना करके देखती हूं । यहां केवल पैसा कमाने वाला नहीं कहा, परन्तु श्रेष्ठ मन अर्थात् न्यायधर्म के अनुसार बर्ताव करके जो पैसा कमाता है, उस का उल्लेख है, यह बात इस मंत्र में विशेष ध्यान देने योग्य है । परमेश्वर के सत्य नियम को लक्ष्य में रखकर उसी पुरुष में पति की भावना करती हूं अर्थात् दूसरे पुरुषों में भ्रातृ-भावना रखती हूं । परमेश्वर का सत्य नियम जैसा अटूट है उसी प्रकार मेरी यह भावना भी अटूट है, यह

तात्पर्य है। पत्नी के मन में कितनी पति निष्ठा रहनी चाहिए, इस का बोध इस विधान से हो सकता है।

इसी से पति का पत्नीव्रत भी जाना जा सकता है। जो स्त्री विदुषी स्त्रियों में सत्कार पाती हैं, जो स्वयं विदुषी है, जो श्रेष्ठ मन रखती है और उसीसे अपना बर्ताव करती है उसी स्त्री के साथ ईश्वरीय सच्चाई से मैं पत्नी भावना रखता हूं।

धर्मोपदेश स्त्री पुरुषों के लिये समान ही हुआ करते हैं।

१३५ पति राजा और पत्नी रानी है।

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति। सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा विराजतु ॥३॥

अर्थ—हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष! (इयं नारी) यह स्त्री (पतिं विदेष्ट) पति को प्राप्त होती है। (हि) क्योंकि (सोमः राजा) विद्वान् पति ही उस को (सुभगां) सौभाग्य युक्त (कृणोति) करता है। वह स्त्री (पुत्रान् सुवाना) पुत्रों को उत्पन्न करती हुई (महिषी भवाति) रानी बनती है। वह स्त्री (पतिं गत्वा) पति को प्राप्त

होकर (सुभगा) सौभाग्य युक्त होकर (विराजतु) विशेष प्रकार सुशोभित होवे।

उमा शब्द रक्षक विद्या का वाचक है। "स+उमा= सोमः" जो रक्षक विद्या से युक्त होता है, उस को सोम अर्थात् विद्वान् कहते हैं। पति राजा है, पत्नी रानी है और घर स्वराज्य है।

१३६ युद्ध-नीति।

अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्। स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः॥

[अथर्व० ३।१।७]

अर्थ-(विद्वान् अग्निः) ज्ञानी तेजस्वी नेता (शत्रून् प्रत्येतु) शत्रुओं पर चढ़ाई करे। (अभिशस्ति) दुष्ट इच्छा वालों और (अ-रातिं) दान न देने वालों को (प्रति दहन्) जलाता हुआ चढ़ाई करे। (सः) वह नेता (परेषां सेनां) शत्रुओं की सेना को (मोहयतु) मोहित करे। और वह (जातवेदाः) ज्ञानी पुरुष शत्रु सेना को (निर्हस्तान् कृणवत्) हस्त हीन करे।

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो विनाशय ॥
इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥

अथर्व० ३।१।५-६

अर्थ—हे (इन्द्र) परम-ऐश्वर्यवान् राजन्! (अमित्राणां सेनां) शत्रुओं की सेना को (मोहय) मोहित करो, घबराओ। (अग्नेः वातस्य च) अग्नि और वायु के (ध्राज्या) अस्त्रों से (तान्) उन शत्रुओं को (विषूचः नाशय) चारों ओर भगाओ। (इन्द्रः) राजा (सेनां मोहयतु) सेना को मोहित करे। और (मरुतः) मरने के लिये सिद्ध हुए हुए सैनिक (ओजसा) बल के साथ (घ्नन्तु) शत्रुओं का हनन करें। (अंगिराः) अग्नि उन शत्रु सैनिकों के (चक्षूंषि) आंखें (दत्तां) लेजाय। (पुनः) इस के पश्चात् शत्रु सेना (पराजिता एतु) परास्त हुई हुई भाग जाय।

अग्नि के अस्त्र से शत्रु सैनिकों को अंधा किया जाय यही आशय उक्त मंत्र में कहा है। इन्द्र शब्द राजा का वाचक है जैसा नरेन्द्र, देवेन्द्र आदि में है। जो मरने के

लिये तयार होगये हों उन सैनिकों का नाम मरुत् है। जहां राजा के लिये इन्द्र शब्द आता है वहां सैनिक और प्रजा के लिये मरुत ही शब्द आता है।

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि। अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्या मित्रांस्तमसा विध्यशत्रून् ॥ ५ ॥

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना। तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषा मन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥

[अथर्व० ३।२।५-६।]

अर्थ—हे (अप्वे) प्राप्तव्य नेता (अमीषां चित्तानि) इन शत्रुओं के मन (प्रतिमोहयन्ती) मोहित करके इन के (अंगानि) अवयव (गृहाण) पकड़ रखो। (परेहि) दूर जाओ और (अभि-प्रेहि) सब प्रकार से चढ़ाई करो। (शोकैः हृत्सु निर्दह) शोकों के द्वारा हृदयों को जलाओ। (ग्राह्य अमित्रान् शत्रून) घेरने योग्य शत्रुओं को तमसा विध्य) अंधेरे से घेरो। हे (मरुतः) मरने के

लिये सिद्ध हुए हुए सैनिकों। (या असौ परेषां सेनां) जो यह शत्रुओं की सेना (स्पर्धमान) ईष्याद्वेष करती हुई (ओजसा) बल के साथ (अस्मान् अभिएति) हमारे ऊपर चढ़ाई कर रही है। (तां) उस सैन्यको (अपव्रतेन तमसा) नियम हीन अंधेरे से ऐसा (विध्यत) लड़ाओ कि (यथा) जिस से (ऐषां) इनमें से (अन्यः अन्यं) एक दूसरे को (न जानात) न जान सके।

१३७ राजा और प्रजा।

आ त्वां गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं विराज। सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥

[अथर्व० ३।४।१]

अर्थ-(त्वा राष्ट्रं आं गन्) तेरे पास राष्ट्र आगया है। (वर्चसा सह उदिहि) तेज के साथ प्रकाशित हो। (विशां) प्रजाओं का (एक राड् पातिः) एक राजा और एक पालक बनकर (त्वं प्राङ् विराज) तू पीछे से तेजस्वि बनो। हे (राजन्) राजा ! (सर्वाः प्रदिशः) सब दिशाओं में रहने वाले लोक (त्वा ह्वयन्तु)

तुम्हारा आह्वान करे, अर्थात् तुम्हें चाहें। (इह) इस राष्ट्र में (उपसद्यः) प्राप्तव्य और (नमस्यः भव) नमस्कार के लिये योग्य हो।

१३८ राजा का चुनाव।

त्वां विशो॑ वृणतां राज्या॑य त्वामि॒माः प्र॒दिश॒: पञ्च॑ दे॒वीः। वर्ष्म॑न् रा॒ष्ट्रस्य॑ क॒कुदि॑ श्रयस्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा वसू॑नि ॥२॥

[अथर्व० ३।४।२]

अर्थ-(विशः) सब प्रजा (त्वां राज्याय वृणतां) तुझे राज्य के लिये स्वीकार करे। (इमाः देवीः पञ्च प्रदिशः) ये दिव्य पांच दिशाओं में रहने वाले लोक (त्वां) तुझे स्वीकार करें (वर्ष्मन्) बलवान होकर (राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व) राष्ट्र के उच्चभाग पर रहो। (ततः) वहां से (उग्रः) शूर होता हुआ (नः) हमारे लिये (वसूनि विभज) धनों को बांटो।

इस मंत्र में कहा है कि सब प्रजाजनों को अधिकार है कि वे राज्य चलाने के लिये राजा को चुने। दिशा उपदिशाओं में रहने वाले सब लोगों की संमति लेनी

चाहिए ऐसा भाव यहां स्पष्ट प्रतीत होता है। इस प्रकार चुना हुआ राजा राजगद्दी पर अरूढ होता है, ऐश्वर्य प्राप्त होने पर शौर्य आदि गुण नष्ट होंगे और वह ऐशआराम में मस्त होना संभव है। इसलिये इस आपत्ति से उन को बचाने के लिये "ततः उग्रः" (पश्चात् भी तू शूर रहो) ऐसा स्पष्ट कहा है। संपत्ति कमाने तक शूर रहना कठिन नहीं है, परन्तु अतुल संपत्ति प्राप्त होने के पश्चात् शौर्य की रक्षा करनी कठिन है इसलिये यहां का "उग्र" शब्द विशेष महत्व का है। "धन का प्रजाओं में ठीक विभाग करो" यह आज्ञा आजकल के समाज सत्ता (Socialists) वादियों के मत के समान दिखती हैं. समाज में संपत्ति का विषम विभाग नहीं होना चाहिए। यह आशय यहां प्रतीत होता है।

१३६ मैं राष्ट्र का निज बन कर रहूंगा।

मयिं क्षत्रं पर्णमणे मयिं धारयताद् रयिम्।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥२॥

[अथर्व० ३।५।२।]

अर्थ—हे (पर्ण-मणे) पूर्णों में श्रेष्ठ ! (मयि क्षत्रं) मेरे में क्षात्र बल और (मयि रयिं) मेरे में धन (धारयतात्) धारण कराइये। (अहं) मैं (राष्ट्रस्य अभीवर्गे) राष्ट्र के परिवार में (उत्तमः निजः भूयासं) उत्तम निज होऊंगा।

जो पूर्ण होता है उस को पर्ण अथवा पूर्ण कहते हैं। मणि शब्द का अर्थ सर्वोत्कृष्ट (Excellent) है। पूर्णों में जो उत्तम होते हैं; उन को पर्ण-मणी कहते हैं। राष्ट्र के अंदर जो पुरुष सब से श्रेष्ठ होते हैं, उन से चुना हुआ राजा प्रार्थना करता है कि हे 'श्रेष्ठ पुरुषो ! आप कृपा करके राष्ट्रीय क्षात्रबल अर्थात् सैन्य और राष्ट्रीय धन अर्थात् खज़ाना=द्रव्यकोश मेरे अधिकार में रहेंगे ऐसा कीजिए। मेरे अधिकार में रखिए। विश्वास रखिए कि मैं उन का दुरुपयोग नहीं करूंगा क्योंकि राष्ट्र का निज बनकर मन अपने स्थान पर रहता है।" राजा और राज पुरुषों को चाहिए कि वे जिस राष्ट्र का पालन करते हों उस राष्ट्र के निज परिवार में से एक अवयव पारिवारिक जन बनकर रहें। जिस का हित और अहित राष्ट्र के हित और अहित के साथ नित्य संबद्ध होता है, उस को निज कहते हैं। जो राजा राष्ट्र का निज बनता है, वही राष्ट्र के लिये लाभदायक होता है।

१४० राजा और राजा को बनाने वाले।

ये राजा॑नो राजकृतः॑ सूताग्रा॑मण्य॒श्च ये ।
उपस्तीन्प॑र्ण मह्यं त्वं सर्वा॑न् कृण्वभितो जना॑न् ॥ ७ ॥

अर्थ-(ये राजानः) जो राजा लोग, सरदार, ओहदेदार हैं (राजकृतः) जो राजा को करने अर्थात्

चुनने वाले हैं (सूताः) जो कारीगर हैं, और (ये ग्राम-ण्य) जो नगरों के नेता हैं, इन सब को, हे (पर्ण) पूर्ण विद्वान्! (त्वं) तू (मह्यं) मेरे लिये (उपस्तीन्) सभागार, सुलाह देने वाले और (सर्वान् जनान्) सब प्रजा जनों को (अभितः कृणु) पास करो।

इस मंत्र में "राजानः शब्द सरदार (Noblemen) का वाचक है। सम्राट् के पास जैसे छोटे छोटे राजा रहते हैं। राज-कृतः शब्द राजा को बनाने वाले, चुनाव में जिन को मत देने का अधिकार है, उन का बोध करता है। राजा और राजकृत ये दोनों शब्द (Kingsand King makers) के समान ही हैं। * सूत शब्द उत्पादक धंदा (productive work) करने वाले कारीगरों का वाचक है। ग्राम-नी शब्द ग्रामों के नेता लोगों का बोधक है। (१) सरदार (Noblemen) (२) मतदार (Voters) (३) कारीगर (Artists and workmen) (४) गांव के चौधरी (Leaders of village and towns) ये चार प्रकार के लोग

*सु-प्रसव ऐश्वर्ययोः। सु धातु का अर्थ उत्पन्न करना और ऐश्वर्ययुक्त होना है। उत्पादक धंदा (Productive work) करके जो संपत्ति (wealth) प्राप्त करता है, वह सूत हो सकता है। सूत शब्द का रथकार (तर्खाण Carpenter) अर्थ है। यह एक उत्पादक धंदा करने वाला है। इस के उपलक्षण से अन्य धंदे वालों का ज्ञान हो सकता है।

राजा का 'आभि-जन" अर्थात् परिवार है और ये ही उस के सुलाहकार होने चाहिए। अर्थात् इन चारों में से योग्य पुरुषों का एक मंडल बनाकर उस मंडल को राजा के लिये प्रत्येक कार्य में सलाह देनी चाहिए।

१४१ विचारों और आचारों की एकता।

सं वो मनांसि संव्रता समाकूतिर्न मामासि।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥

[अथर्व० ३।८।५]

अर्थ–(वः सं मनांसि) आप के एक हुए हुए, मनों को (संव्रतानि) आचारों को और (सं आकूतिः) कर्मों को (नमामसि) नम्र होते हैं। (वः) आप में (अमी ये वि-व्रतास्थन) ये जो विरुद्ध आचरण करने वाले हैं (तान्) उन को (सं नमयामसि) दबाते हैं।

राजा को उचित है कि वह प्रजा के एकीभूत विचारों आचारों और कर्मों के सन्मुख नम्र होवे अर्थात् प्रजा के समत्यानुसार बर्ताव करे। मंत्र में "सं" पद है उसका अर्थ

उत्तम रीति से एकत्रित हुआ हुआ। प्रजा का सब मत सन्मान योग्य नहीं होगा। परन्तु जो उत्तम रीति से एकता में आया हो वही मानने योग्य होगा। जो उन्नति के विरोधी कर्म होंगे उन को "वि-व्रत" कहते हैं, विरोध फैलाने का कार्य करने वाले को भी विव्रत कहते हैं। विरोध उत्पन्न करने का जो व्रत वह विव्रत है। उन को दबाना चाहिए। उत्तम रीति से एकता में आने का मतलब इतना ही है कि अधार्मिक धोखेबाजी से यदि कोई मत बढ़ता हो तो उस को रोकना चाहिए।

१४२ राजा और प्रजा का परस्पर विश्वास।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत। मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ ६ ॥

अर्थ-(अहं) मैं (मनसा मनांसि) अपने मन से आप के मनों को (गृभ्णामि) स्वीकारता हूं। (एत) ये (चित्तेभिः) अपने चित्तों से (मम चित्तं अनु) मेरे चित्त के अनुकूल रहें। (वः हृदयानि) आप के अंतःकरणों को (मम वशेषु कृणोमि) मेरे वश में करता हूं।

आप भी (मम अनुवर्त्मानः यातं एत) मेरे अनुगामी मार्ग से जाइए।

"मैं अपने उत्तम विचारों के कारण आप के मनों को आकर्षित करूंगा। तथा आप भी विना कारण मतभेद न बढ़ाते हुए मेरे साथ मिलजुल कर रहिए। मैं अपने योग्य आचारण से आप के हृदयों को खेंच लूंगा। तथा आप को भी उचित है कि आप मेरे उद्दिष्ट के अनुसार ही अपना बर्ताव रखिए।"

यह मन्त्र राजा का तथा प्रजा के नेताओं का कर्तव्य बता रहा है। राजा अपने विचारों और आचारों से प्रजा का चित्त आकर्षित करे अर्थात् राजा ऐसा बर्ताव करे कि जिस से प्रजा में विश्वास उत्पन्न हो सके, कि यह राजा प्रजा की निःसन्देह उन्नति कर रहा है। तथा साथ साथ प्रजा और प्रजा के नेता भी आपस के और राजा के साथ के बर्ताव ऐसे करें कि जिस से राजा के उद्दिष्ट उन्नति मार्ग में विना कारण झगड़े न खड़े हों। दोनों को उचित है कि परस्पर विश्वास रखकर परस्पर सहायाता करके अपनी उन्नति करें।

१४३ जल-चिकित्सा।

आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः। आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥

(अथर्व० ३।७।५)

अर्थ–(आपः इद् वा उ) जल निःसन्देह (भेषजीः) दवा है । (आपः) जल (अमीव-चातनीः) रोग हटाने वाला है । (आपः) जल (विश्वस भेषजीः) सब रोगों की दवा है (ताः) वह जल (क्षेत्रियात्) क्षेत्रिय रोग से (त्वा मुंचन्तु) तुझे मुक्त करे ।

जो बीमारी माता पिता से प्राप्त होती है, उस को क्षेत्रिय रोग कहते हैं । इस प्रकार की आनुवंशिक बीमारी भी जल से दूर होती है ।

१४४ हवन से रोगों का नाश ।

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात
यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् । ग्राहिर्जग्राह यद्ये-
तदेनं तस्यां इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥

[अथर्व० ३।११।१]

अर्थ–(हविषा) हवन से (त्वा जीवनाय) तुझे जीने के लिये (मुंचामि) छोड़ता हूँ । अज्ञात-यक्ष्मात् न जानी हुई बीमारी से (उत) और (राज यक्ष्मात्) राजयक्ष्मा से (कं) सुख की ओर ले जाता हूं । (यदि

एनं) यदि इस को (एतत् ग्राहिः) यह न कम होने वाली बीमारी (जग्राह) पकड़ी है (तस्याः) उस से भी (एनं) इस बीमार को, (इन्द्राग्नी) हे बिजुली और अग्नि ! (प्रमुमुक्तं) छुड़ा दे !

हवन से आयुष्य वृद्धि होती है। ज्ञात और अज्ञात व्याधियों से आराम होने का एक मात्र उपाय हवन ही है। मनुष्य अपने आप को अच्छा तन्दुरुस्त समझता है, परन्तु अंदर छिपी हुई बीमारियां रहती हैं उन को अज्ञात यक्ष्म कहते हैं। तपेदिक को राजयक्ष्मा कहते हैं। एक बार बीमारी होने पर सालोंसाल चलती रहती हैं और कभी और कभी आराम होने नहीं आती, उस को ग्राही कहते हैं। इन सब का नाश हवन से होता है।

१४५ गृह-व्यवस्था ।

इहैव ध्रुवा प्रतितिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती । ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥ २ ॥

(अथर्ववेद ३ । १२ । २)

अर्थ—हे (शाले) घर ! (इह एव) यहां ही (ध्रुवा प्रतितिष्ठ) स्थिर रहो। घर (अश्वावती) घोड़ों से

युक्त (गोमती) गाइयों से युक्त (सूनृत्वा-वती) जंगम धन से युक्त (ऊर्जस्वती) धान्य युक्त (घृतवती) घी युक्त (पयस्वती) दूध से युक्त होकर (महते सौभाग्य) महान सौभाग्य के लिये (उच्छयस्व) उन्नत हो।

मकान मज़बूत बनाना चाहिए और उस में घोड़े, गौवें, धन धान्य, उपयोगी स्थावर पदार्थ, घी, दूध आदि सब पदार्थ विपुल होने चाहिए।

१४६ अपने घर का रक्षण करो।

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा। तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उपसं चरेम ॥ १ ॥

अथर्व० ३। १२। १

अर्थ-(इह एव) यहां ही (ध्रुवां शालां) स्थिर घर (निमिनोमि) बनाता हूं। यह घर (घृतं उक्षमाणा) घी का छिड़काव करने वाला बनकर (क्षेमे तिष्ठाति) सुरक्षित रहे। हे (शाले) घर! (तां त्वा) उस तेरी (सर्ववीराः) सब प्रकार के वीर (सुवीराः) उत्तम शूर (अरिष्ट-वीराः) कष्ट के समय शौर्य दिखाने वाले हम सब (उप संचरेम) सेवा करें।

घी का छिड़काव करने वाला घर अर्थात् जिस में पानी के समान घी बरता जाता हो, जिस में बहुत घी हो, घर में बहुत घी रखना चाहिए । अपने मकान की रक्षा करने के लिए सब को शूरवीर बनना चाहिए । व्यक्ति का मकाम घर है और जाति का मकान राष्ट्र है । इन की रक्षा करना प्रत्येक का कर्तव्य है ।

१४७ घी का घड़ा ।

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम् । इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—हे (नारि) धर्मपत्नि ! (एतं पूर्णं कुंभं) इस भरे हुए घड़े को यहां (प्रभर) ले आओ । (अमृतेन संभृतां) अमृत से भरी हुई (इमां घृतस्य धारां) यह घी की धारा (पातॄन्) पीने वालों को (अमृतेन) अमृत के साथ (समङ्‌धि) पिलाओ । हमारा (इष्टाऽपूर्तं) इष्ट और समाधान (एनां) इस की (अभि रक्षाति) सब ओर से रक्षा करे ।

अमृत शब्द का अर्थ-सोम रस, यज्ञशेष-प्रसाद, दूध, पके हुए चावल, मीठा, मिठाई, शहद, किसमिश आदि

कोई मीठा पदार्थ यहां विवक्षित है । इस के अन्य अर्थ मुक्ति, मुक्ति धाम आदि जो हैं वे यहां अभीष्ट नहीं हैं, क्योंकि यहां खाने पीने का सम्बन्ध आया है । पति अपनी धर्मपत्नी को कहता है, कि आये हुए अतिथियों के लिए घी और मीठा दे दो । घी और मीठे के घड़े भरे हुए ले आओ ऐसा कहा है, इस से विदित होता है कि घर में इन पदार्थों के घड़े भर कर रखने चाहिए । इष्ट और समाधान यही होना चाहिए कि जो अतिथि आये हों उन का इन पदार्थों से सत्कार करना ।

१४८ निरोगी जल ।

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ ६ ॥

अर्थ-(इमाः) ये (अयक्ष्माः) रोग रहित और (यक्ष्म नाशनीः) रोगों का नाश करने वाला (आपः) जल (प्र भरामि) भरती हूं, लाती हूं । (अमृतेन अग्निना सह) अमृत अग्नि के साथ (गृहान्) घरों को (उप प्रसीदामि) आनंदित रखती हूं ।

घरों में पीने वाला पानी ऐसा भरना चाहिए कि जो रोग रहित और शुद्ध हो । जिस के पीने से रोग हट जांय, नहीं तो कहीं कहीं का पानी इतना खराब होता है कि जो

पीने से नाना व्याधियां उत्पन्न होती हैं। स्त्रियों को इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। और पुरुषों की दृष्टि भी इस ओर खिंचनी चाहिए। पानी अच्छा शुद्ध न हो तो उस अमृत-जल का अग्नि के साथ सम्बन्ध जोड़ने से अर्थात् उस को उबालने से वह पानी ठीक होजाता है। इस प्रकार उबाल कर ठीक किया हुआ पानी अमृत बन कर घरों में आनन्द उत्पन्न करता है। नहीं तो इस का विचार न करके कैसा भी पानी पिलाया जाय तो बीमारियां बढ़ेंगी और घरोंमें दुःख ही दुःख उत्पन्न होगा, इस में कोई शंका नहीं।

अमृत उस जल का नाम है कि जिस में $\frac{१}{१००}$ सौवां भाग नमक मिला हो। ऐसा जल आधा कटोरा प्रातः पीने से बहुत से रोग हटते हैं। बुखार, हैज़ा आदि में यह बहुत लाभदायक प्रतीत होता है, ऐसा कहते हैं।

१४९ उदक का लक्षण।

एकों वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम्।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥१॥

(अथर्व० ३।१३।४)

अर्थ—(एकः देवः) एक ही ईश्वर (वः अपि) आप जल के ऊपर भी (अतिष्ठत्) अधिष्ठाता है।

यद्यपि जल (यथावशं) अपनी इच्छा के अनुसार (स्यन्दमानाः) भ्रमण करता है। चूंकि (महीः) बड़ी बड़ी नदियां (उदानिषु) ऊपर जाती हैं (इति तस्मात्) इसालिये (उदकं उच्यते) जल को उदकं कहा जाता है।

यद्यपि जलप्रवाह, नदी नाले अपने महान वेग से चल रहे हैं तथापि उन सब पर एक ही ईश्वर की शक्ति है। जैसा स्थिर पदार्थों पर ईश्वर का स्वामित्व माना जा सकता है वैसा ही स्वेच्छा से संचार करने वाली नदियों पर भी परमेश्वर का प्रभुत्व है या नहीं ऐसी शंका हो सकती है। जिस का उत्तर इस मंत्र में दिया है। महान् नदियां ऊपर चढ़ती हैं, पानी की भांप बनकर ऊपर जाती है यह ऊपर जाने का धर्म जलों में देख कर उस को (उद्-अक)= उदक (अर्थात् ऊपर जाने वाला) ऐसा कहते हैं।

१५० वणिज।

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु। नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तुमह्यम् ॥ ११ ॥

(अथर्व ३। १५। १।)

अर्थ-(अहं) मैं (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान (वणिजं) बनियां को (चोदयामि) प्रेरणा, उत्साह करता हूं कि (स नः) वह हमें (पुरः एतु) आगे लेजावे और वह (नः) हमारा (एता अस्तु) नेता होवे। (अ-रातिं) परोपकार, दान न करने वाले को और (परि-पंथिनं) मार्ग छोड़कर चलने वाले को और (मृगं) जंगली जानवरों को (नुदन्) एक ओर करके (स ईशानः धनदा) वह स्वामी धनदाता (मह्यं अस्तु) मेरे लिये होवे।

श्रीमान् बनिया को उचित है कि वह अन्यों का नेता और मार्ग-दर्शक बने तथा स्वार्थी, कुत्सित मार्ग पर से चलने वाले को और दुष्ट क्रोधियों को समाज से हटाकर अन्यों को धन से सहायता करता रहे।

१५१ व्यापार से धन की प्राप्ति।

येन॒ धने॑न प्रप॒णं चरा॑मि॒ धने॑न देवा॒ः धन॑-मि॒च्छमा॑नः । तन्मे॒ भूयो॑ भवतु॒ मा कनी॒योऽग्ने॑ सात॒घ्नो दे॒वान् ह॒विषा॒ नि॒षेध ॥ ५ ॥

अर्थ-हे (देवाः) विद्वानो ! (येन धनेन) जिस धन से (धनं इच्छमानः) धन की इच्छा करने वाला मैं

(धनेन प्रपणं) धन से व्यापार-तिजारत-(चरामि) करता हूं। (तत्) वह धन (मे) मेरे पास (भूयः भवतु (बहुत होवे।) मा कनीयः) थोड़ा न होवे। हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष ! (सात-घः) धन का नाश करने वाले (देवान्) क्रीड़ा, खेल, जूआ खेलने वालों घमण्ड करने वालों और आलसी लोकों को (हविषा) हुक्म से (निषेध) निषेध करो, प्रतिबन्ध करो।

धन बढ़ाने की इच्छा करने वाले व्यवहार चतुर लोक व्यापार व्यवहार=तिजारत करके धन को बढ़ावें। उन को उचित है कि वे ऐसा बुरा व्यवहार न करें, कि जिस से उन का धन नष्ट होकर उन को निर्धन होना पड़े। "सात-घ्न" शब्द का अर्थ प्रेम का नाश करने वाला,धन की हानी, करने वाला, परोपकार (दान) का घात करने वाला है। "सात" शब्द प्रेम, धन, दान अर्थ बताता है। सात शब्द का दूसरा अर्थ "छोटा करना" ऐसा भी है, परन्तु वह अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं। देव शब्द के अर्थ (१) जूआ खेलने वाला, (२) स्पर्धा करने वाला, (३) व्यापारी, सौदागर, व्यवहार कुशल, (४) प्रकाश रूप, (५) स्तुति योग्य, स्तुति कर्ता, विद्वान, ज्ञानी, (६) आनंदी, (७) घमंडी,

(८) सुस्त, सोने वाला, आलसी, (९) तेजस्वी, (१०) चपल, फुर्तीला (११) प्राप्त करने योग्य (१२) आप्त पुरुष, (१३) ब्राह्मण, (१४) राजा, क्षत्रिय, इत्यादि

अनेक हैं। इनमें निषेध करने के कारण यहां जुआ आदि खेलने वाला घमंडी आदि बुरे अर्थ ही विवक्षित हैं। हविष् शब्द के हवन, सामग्री, घी, हवनीय पदार्थ ऐसे अर्थ हैं।

इस के सिवाय उस "हविः" शब्द के दान आदान, लेन देन, Order हुकुम, Command आज्ञा, Challenging अपराधी ठहराना, defying सामना करना Call आज्ञा prayer प्रार्थना इत्यादि अर्थ हैं। इन में से मेरे ख्याल में हुक्म और आज्ञा ये अर्थ यहां अभीष्ट हैं। क्योंकि "धन का नाश करने वाले जुवेबाज, आलसी, घमंडी आदि दुष्टों को राजा की आज्ञा से प्रतिबंधित करो" यही अर्थ पूर्वा पर संगति से ठीक दीखता है।

"हव, हवन, हविष" ये शब्द "हु" (दान, आदान) धातु से बनते हैं, वैसे ही "ह्वे" (आह्वान) धातु से बनते हैं। पहिले धातु के अर्थ से उन का अर्थ हवन सामग्री आदि अर्थ होता है। मंत्र की पूर्वा पर संगति देखने से मेरे ख्याल में "ह्वे" धातु से "हविष्" शब्द बनाकर उस का अर्थ हुक्म, आज्ञा आदि प्रकार का समझना उचित है। विचारी, स्वाध्याय शील विद्वानों को उचित है कि इस मंत्र के "सातघ्नो देवान् हविषा निषेध" के अर्थ पर विशेष विचार करें।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः । तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ ६ ॥

अर्थ—हे (देवाः) व्यवहार चतुर लोको ! (धनेन धनं) धन से धन की प्राप्ति की (इच्छमानः) इच्छा करने वाला मैं (येन धनेन) जिस धन से (प्र-पणं चरामि) व्यापार करता हूं । (तस्मिन्) उस व्यापार में (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् (प्रजा-पति) प्रजा पालक (सविता) सकल जगदुत्पादक (सोमः) विद्वान् (अग्निः) तेजस्वी ईश्वर (मे रुचिं) मेरी रुचि (आ दधातु) धारण करे, रक्खे ।

व्यापार हो या कोई अन्य कार्य हो उस में सिद्धि प्राप्त करने के लिये उसी में रुची से लगातार प्रयत्न करना चाहिए । आज यह कार्य, कल दूसरा, परसों तीसरा ऐसा करने वालों को सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती । रुची से एक कार्य के पीछे निरंतर लगने से सिद्धि मिलती है । "मेरा दिल नहीं लगता" ऐसा कहने वालों से कुछ भी नहीं होगा ।

१५२ प्रातः स्मरण ।

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना । प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥

[अथर्व० ३।१६।१]

अर्थ-(प्रातः अग्निं) सवेरे तेजस्वी ईश्वर की तथा (प्रातः इन्द्रं) प्रातःकाल में परमैश्वर्यवान् ईश्वर की (हवामहे) प्रार्थना करते हैं । (प्रातः मित्रा वरुणौ) सवेरे मित्र और स्वीकारने योग्य ईश्वर की तथा (प्रातः अश्विनौ) प्रातःकाल में पोषक और हिंसक शक्तिशाली ईश्वर की प्रार्थना करते हैं । (प्रातः भगं पूषणं ब्रह्मणस्पति) सवेरे भाग्यवान्, पुष्टि देने वाले ज्ञान के स्वामी ईश्वर की प्रार्थना करते हैं और (प्रातः सोमं उत रुद्रं) प्रातःकाल में शान्त्यादि गुण युक्त और भीषण गुण युक्त ईश्वर की (हवामहे) प्रार्थना करते हैं ।

सवेरे प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त्त में उठते ही तेजस्वी, परम ऐश्वर्य युक्त, सब का मित्र, सब को स्वीकारने योग्य,

विविध शक्तियों से युक्त, भाग्यवान, पोषक, ज्ञान का स्वामी, शांति आदि सोम्य गुणों से युक्त तथा मन्यु आदि रौद्र गुणों से युक्त ईश्वर की प्रार्थना करनी सब के लिये उचित है।

प्रातःकाल उठने का समय "पुरा सूर्यात् पुरा उषसः" (सूर्य के और उषःकाल से पूर्व) है (देखिये अथर्ववेद) उषर्बुधः (प्रातःकाल में जगने वाला) शब्द बताता है कि उषा से पूर्व उठकर अपने नित्य कर्म करने चाहिए।

भगप्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः। भग प्रणो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ-हे (प्रणेतः भग) नेता भगवान्! हे (भग) भगवन्! तू (सत्य-राधः) सत्य सिद्धि है। हे (भग) भगवन्! (इमां धियं) इस प्रकार की उच्च बुद्धि (नः ददन्) हमें देता हुआ (उत् अव) उन्नत करता हुआ रक्षण करो। हे (भग) भगवन्! (नः गोभिः अश्वैः) हमारे गायें और घोड़ों की (प्रजनय) विशेष उन्नति करो। हे (भग) भगवन्! हम (नृभिः नृवन्तः) उत्तम नेताओं से नेतायुक्त (प्र स्याम) होवें।

हे परमेश्वर ! तेरी सब सिद्धियां तीनों काला में सत्य हैं । एकसी हैं । हमारे मनुष्य, नेता-लोग, गायें घोड़े आदि पशु सब उन्नत होकर हमारे साथ रहें । और हमें उत्तम बुद्धि का दान करो, जिस से हम उत्तम ज्ञान को ग्रहण कर सकें ।

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् । उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥

अर्थ-(उत इदानीं) निश्चय से अब हम सब (भगवन्तः स्याम) सौभाग्य युक्त होवें । (उत प्रपित्वे) निश्चय से पूर्वाह्ण में (उत अह्नां मध्ये) मध्याह्न में । (उत सूर्यस्य उदितौ) निश्चय से सूर्य के उदय में और अस्त में । हे (मघवन्) भगवन् ! (वयं) हम सब (देवानां सु-मतौ) विद्वानों की उत्तम बुद्धि में (स्याम) रहें ।

सवेरे शाम तक हम सब ऐसे प्रयत्न करते रहें कि जिस से हमारा भाग्य उन्नत होता रहे । उसी प्रकार सर्वदा हम ऐसे वायुमंडल में व्यवहार करते रहें कि जिस में विद्वानों की बुद्धि का ज्ञान भरा हुआ हो ।

अश्वा॑वती॒र्गोम॑ती॒र्न उ॒षासो॑ वी॒रव॑तीः सद॑मुच्छन्तु भ॒द्राः। घृ॒तं दुहा॑ना वि॒श्वतः॒ प्रपी॑ता यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः॥७॥

अर्थ—(अश्वा-वतीः) घोड़ों से युक्त (गो-मतीः) गौवों से युक्त (वीर-वतीः) शूरवीर पुरुषों से युक्त (भद्राः) कल्याण कारक (उषासः) उषःकाल (नः सदं) हमारे घरों को (उच्छन्तु) सुशोभित करें। (घृतं दुहानाः) घी का दोहन करने वाले और (विश्वतः) सब ओर से (प्रपीताः) पुष्ट हुए हुए (यूयं) आप श्रेष्ठ पुरुष (नः) हम सब को (स्वास्तभिः) स्वास्थ की रक्षा करके (पात) सुरक्षित करें।

हमारे मकानों में घोड़े गौवें और शूरवीर हों। प्रातःकाल उठकर घोड़ों पर से सैर करें। दूध, घी, दही, मक्खन खा कर पुष्ट होवें। प्रातःकाल के सूर्य किरण हमारे लिये आल्हाद देने वाले हों अर्थात् हम आरोग्य संपन्न रहकर उषःकाल की शोभा देखकर आनंदित होवें। हे ईश्वर! तू हमारा भाग्य बढ़ाकर हमारे लिये स्वास्थ्य देकर हमारी रक्षा करो।

१६३ खेती।

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥१॥ युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ॥ विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमा यवन् ॥ २ ॥

[अथर्व० ३।१७।१-२]

अर्थ-(कवयः) ज्ञानी लोग (सीराः युंजन्ति) हल जोते हैं। और (देवेषु सुम्नयौ धीराः) विद्वानों के लिये भक्ति धारण करने वाले धैर्यशाली पुरुष (पृथक्) अलग अलग (युगा वितन्वते) योग-हल का जुआ फैलाते हैं। (सीराः युनक्त) हलों को जोतो। (युगा वि तनोत) हल के जुओं को फैलाओ। (कृते योनौ) भूमि में झुरी करने के वाद (इह) वहां उस झुरी में (बीजं नपत) बीज बोओ। इस से (नः) हमारे लिये (वि-राजः) विशेष तेजस्वी (श्नुष्टिः) सौभाग्यमय उन्नातियां (स-भराः) पुष्टि के साथ (असन्) होती रहें। हमारे

(सृरायः) हंसियों के (नेदिय इत्) पास पास निश्चय से (पक्वं) पका हुआ धान्य (आयन्) आवे।

विद्वान, ज्ञानी, कवी, धैर्यशाली, ईश्वर-भक्ति करने वाले लोग खेती करें। अर्थात् राष्ट्र में विद्या इतनी हो कि किसान भी (कवयः-कु-शब्दे) साक्षर (Literate) हों। खेती अच्छी प्रकार करने से ही उत्तम भरण पोषण हो सकता है और खुशी और आनंद प्राप्त हो सकती है। खेत में पका हुआ धान्य तोड़कर खाना चाहिए। जिस से तेज, पुष्टि और स्वास्थ्य ठीक होता है।

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनुयन्तु वाहान्। शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ ५ ॥

अर्थ-(कीनाशाः) किसान (वाहान् शुनं) बैलों और हलों के (अनुयन्तु) पीछे पीछे चलें। (सुफालाः) भूमि तोड़ने वाले (शुनं) हल के पीछे पीछे (भूमिं वि तुदन्तु) भूमि को विशेष तोड़ें, बारीक करें (शुना-सीराः) हलों से बनी हुई भूमि की क्यारियां

(हविषा) धान्य से (तोशमानाः) सन्तुष्ट हुई हुई (सुपिप्पला औषधीः) उत्तम फल वाली वनस्पतियां (अस्मै) इस के लिए (कर्त) करें।

"कीनाश" किसान को कहते हैं। इस का अर्थ (किनाशः ? कीदृशो नाशः ?) कैसा नाश हो सकता है ? है। खेती करने वालों का नाश कैसा हो सकता है ? अर्थात् उन का नाश नहीं हो सकता। जो लोग अन्य धंदे करते हैं उन का नाश होना संभव है, परन्तु भूमि की कृषि करने वालों का कभी नाश नहीं हो सकता। इस का ठीक अर्थ न समझने के कारण जिन का बड़ा बुरा नाश होता है वे कीनाश हैं" ऐसा कई टीकाकारों ने किया है, परन्तु वह वेद के पूर्वा पर संबंध से विरुद्ध है। क्योंकि खेती की प्रशंसा वेद ने अनेक स्थान पर की है इस के पूर्व मंत्र में "सभरा" (उत्तम पुष्टि युक्त) "स्नुष्टिः" (उन्नति युक्त) "विराजः" (विशेष तेजस्वी) किसान खेती के द्वारा होते हैं ऐसा कहा है। अन्य स्थानों पर भी कृषि की प्रशंसा की है, इसलिये कीनाश शब्द का नाश के लिये अयोग्य ऐसा ही अर्थ होना उचित है।

शुन, फाल, सुफाल, सीर, शुनासीर ये खेती के हथियार हैं। जिन साधनों से ज़मीन हली जाती है उन के नाम ये हैं। वाह शब्द हल चलाने वाले बैल अथवा घोड़ों का वाचक है। जो हल को उठाकर चलाता है, उस को वाह करते हैं.

हविष शब्द बोने योग्य धान्य के बीजों का वाचक है। यहां भूमिरूपी यज्ञकुण्ड में बीज-रूप हवि डालना है। इस कृषि यज्ञ का फल धनधान्य समृद्धि है। हवि शब्द का यहां का प्रयोग देखने योग्य है।

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् ।
यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥७

अर्थ—हे (शुना-सीर) हल आदि पदार्थों । (इह) यहां (मे जुषेथां स्म) मेरी सहायता करो । (यत् पयः) जो जल (दिवि चक्रथु) द्युलोक में किया था (तेन इमां) उस से इस को (उप सिञ्चतं) छिड़काओ ।

वृष्टि के पानी से खेती को जल देना इस मंत्र में लिखा है ।

१५४ पुरोहित अग्रणी ।

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम् ।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥१॥

[अथर्व० ३।१९।१]

अर्थ-(मे इदं ब्रह्म) मेरा यह ज्ञान (संशितं) सिद्ध हुआ है। मेरा यह (वीर्यं बलं) वीर्य और बल (संशितं) सिद्ध हुआ है। मेरा यह (क्षत्रं) क्षात्र तेज (अ-जरं) जीर्ण न होने वाला और (संशितं) सिद्ध (अस्तु) होवे। (येषां) जिन का (जिष्णुः) विजयशाली (पुरो-हितः) अग्रणी (अस्मि) मैं हूं।

ज्ञानी पुरुषों का ज्ञान ब्रह्म शब्द से जाना जाता है। तथा शूरों का तेज क्षत्र शब्द से विदित होता है। संशितं का अर्थ accomplished परिपूर्ण हुआ हुआ, certain निश्चित, effecting फलीभूत होना, आदि प्रकार का है। पुरोहित उस को कहते हैं कि जिस को अन्य लोगों ने (पुरः) अग्रभाग में (हितं) रखा हो। जिस को अग्रणी बनाया हो उस को पुरोहित कहते हैं। इस प्रकार चुना हुआ लोकाग्रणी अपना कार्य फलीभूत होने के पश्चात् उक्त भाषण करता है जिन का मैं अग्रणी बना हूं उन का ज्ञान, शौर्य, वीर्य और बल परिपूर्ण होकर फलीभूत होगया है। अर्थात् लोकाग्रणी को अथवा चुने हुए राजा को उचित है कि वह लोगों के ज्ञान, शौर्य, वीर्य और बल को परिपूर्ण और फलीभूत करने का यत्न करें न की इन गुणों को घटाने में अपनी बुद्धि खर्चे।

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २॥

अर्थ-(अहं) मैं (एषां) इन का (राष्ट्रं) राष्ट्र (सं) एकत्रित करके (स्यामि) आगे बढ़ाऊंगा। इन का ओज, वीर्य और बल (सं स्यामि) एकत्रित करके उन्नत करूंगा। और (अनेन हविषा) इस आदान योग्य ओज वीर्य आदि से (शत्रूणां) शत्रुओं के (बाहून्) बाहुओं का (वृश्चामि) छेदन करूंगा।

अग्रणी और राजा को उचित है कि वह राष्ट्र में परस्पर विद्वेषों को हटावे और सब को एकत्रित करके सब की संघशक्ति बढ़ावे। राष्ट्र के अंदर परस्पर कलह और विद्वेष कदापि न बढ़ावे। सब राष्ट्र के लोकों का ओज वीर्य और बल एक केंद्र में एकत्रित करके उस ओज वीर्य बल-रूपी हवन सामग्री को युद्धाग्नि में हवन करके शत्रु के बलों का नाश करे।

इस मंत्र में "हविः" शब्द लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त किया है। युद्ध रूप अग्नि है। अपने पक्ष के लोगों का ओज वीर्य बल आदि हवन सामग्री है। राजा या लोकाग्रणी हवन कर्ता है। शत्रु के सैन्य का नाश इस युद्ध यज्ञ से

करना है। जिस प्रकार साधारण हवन रोग बीज रूपी स्वास्थ्य के शत्रुओं का नाश करता है उसी प्रकार यह युद्ध-यज्ञ राष्ट्र शत्रुओं का नाश करता है।

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्। क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥३॥

अर्थ-(ये) जो शत्रु (नः) हमारे (सूरिं) विद्वान को और (मघवानं) धनवान को अथवा शूरों को (पृतन्यान्) सैन्य द्वारा नष्ट करना चाहते हैं वे (नीचैः पद्यन्ताम) नीचे गिर पड़ें और वे (अधरे भवन्तु) नीचे हो जांय। (ब्रह्मणा) ज्ञान, ईश्वर शक्ति आदि से (अ-मित्रान्) शत्रुओं का (क्षिणामि) नाश करता हूं और (अहं) मैं (स्वान्) अपने लोकों को (उन्नयामि) उन्नति के प्रति ले जाता हूं।

जो शत्रु फ़ौज के बल से विद्वानों की विद्वत्ता, शूरों का शौर्य और धनवानों का धन दबाना चाहता है, अर्थात् इनको परतंत्र करना चाहता है उन को मैं लोकों का अग्रणी अथवा राजा ईश्वर-भक्ति और ज्ञान के बल से नीचे दबा कर नष्ट करता हूं और स्वपक्षियों को अर्थात् ज्ञानी शूर और धनिकों की उन्नति के प्रति ले जाता हूं।

लोकाग्रणी और राजा का कर्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र पर किसी का आक्रमण होने न दे तथा जो आक्रमण करेगा, उस का पूर्णता से नाश करे ताकि वह फिर न उठ सके। तथा स्वराष्ट्र में ज्ञानियों का ज्ञान, शूरों का शौर्य और धनियों का धन स्वातंत्र्य से उन्नत करता रहे।

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि। एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥५॥

अर्थ–(अहं) मैं (एषां आयुधानि) इन के शस्त्रास्त्र (सं स्यामि) तीक्ष्ण करता हूं। (एषां राष्ट्रं) इन का राष्ट्र (सु-वीरं) उत्तम शूर पुरुषों से युक्त करके (वर्धयामि) बढ़ाता हूं। (एषां क्षत्रं) इन का शौर्य (अ-जरं अस्तु) अक्षीण होवे। (एषां) इन का (जिष्णु चित्तं) जयशाली चित्त (विश्वे देवाः) सब विद्वान् (अवन्तु) सुरक्षित करें।

लोकों के अग्रणी अथवा राजा को उचित है कि वह अपने राष्ट्र में उत्तमोत्तम शस्त्रास्त्र सदा तैयार रखे। राष्ट्र के अंदर शूर पुरुषों को बढ़ावें तथा क्षात्र तेज की उन्नति करे। सब विद्वानों को उचित है कि वे राष्ट्र के लोकों में विजयशाली उत्साह पूर्ण मन की स्थापना करें। अर्थात् ऐसा विचार न फैलावें कि जिस से लोक उत्साह हीन

होकर हतवीर्य हो जायें। परन्तु तत्वज्ञान फैलावें कि जिस से लोकों के चित्त सदा उत्साह पूर्ण कर्तव्य तत्पर और विजयशाली होकर चमकते रहें।

१५९ राष्ट्रीय झंडा।

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयता-मेतु घोषः। पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदी-रताम्। देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ६॥

अर्थ—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवान्! (वाजिनानि) अपने सैन्य (उद्धर्षन्तां) उत्साह युक्त होवें। (जयतां वीराणां) विजय प्राप्त करने वाले वीरों के (घोषः) समूह का शब्द (उत् एतु) ऊपर उठे। (केतु-मन्तः) झंडे लिये हुए (पृथक्) अलग अलग (उलुलयः घोषाः) झंडों के महान शब्द (उदीरतां) गरजते रहें। (इन्द्र-ज्येष्ठा) राजा के श्रेष्ठत्व के नीचे (देवाः मरुतः) विद्वान मरने के लिये तैयार हुए हुए सैनिक (सेनया) फौज के साथसाथ (यन्तु) चलतेरहे।

अनेक लोक समूह बनाकर चलते हैं उस समय एक प्रकार का शब्द होता है जो दूर से सुनाई देता है, उस को घोष और उलुलु कहते हैं। युद्ध के समय उत्साहित सेना का ऐसा शब्द होता रहे अर्थात् चारों ओर से उत्साही सैनिक राष्ट्र सेवक युद्ध के लिये सिद्ध होते रहें। अपने राष्ट्र के झंडे लेकर उस का विजय करने के लिये अपने अपने

समूह में एकत्रित होवें। युद्ध के समय यह सैन्य राजा के आधीन रहे और विद्वान लोक भी सैनिक बनकर कार्य करें।

जो मरने के लिये तैयार होता है अथवा जो शत्रु को मारने वाला होता है उस को मरुत् कहते हैं। इस शब्द के अनेक अर्थ हैं, परन्तु यहां सैनिकों के विषय का अर्थ ही अपेक्षित है।

१५६ चढ़ाई ।

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः। तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥

अर्थ—हे (नरः) लोको ! हे सैनिको ! हे नेताओ ! (प्र इत) आगे बढ़ो। (जयता) विजय पाओ। (वः बाहवः) आप के बाहू (उग्रः सन्तु) भयानक हों। आप (तीक्ष्ण-इषवः) तीखे बाण वाले (उग्रा युधः) भयानक शस्त्रास्त्र वाले (उग्र-बाहवः) उग्र बाहु वाले होकर (अ-बल-धन्वनः) जिन के कमजोर धनुष हैं और जो स्वयं (अबलान्) निर्बल हैं उन तुम्हारे शत्रुओं को (हत) मारो, काटो।

उग्र और बलवान् होकर आगे बढ़ना अर्थात् चढ़ाई करनी शत्रु की अपेक्षा उत्तम शस्त्रास्त्र, उत्तम बल और उत्तम तेज रख कर शत्रु को परास्त करना।

इति अथर्व वेद का स्वाध्याय समाप्त ॥

शुद्धिपत्रक ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२९	६	वाला	वाले
४०	३	जब	जव
४५	११	जगत्	जगत् के अधिष्ठाताका
४५	२०	को प्राप्त	प्राप्त
५०	४	धस्य च	द्यस्य च
५२	१६	शास्त्रार्थ	शास्त्रार्थ में
५५	११	Broiz	Brain
,,	२०	मष्नुय	मनुष्य
६५	९	नहीं राम	वही राम
६६	१७	विश्वता	विश्वतो
,,	१८	पदभिर्ग्रा	पद्भिर्ग्रा
,,	२०	जगत्	अर्थात् जगत्
७०	१४	ऊर्ध्वं:	ऊर्ध्वः
७१	७	विद्युतौ	विद्युतः
७५	७	में दो	ये दो
७६	८	लाक्य	लोक्य
७९	६	आर	और
८१	६	श्वासोच्ज्वास	श्वासोच्छ्वास
८४	६	आसाढ	आषाढ़
,,	,,	गीष्म	ग्रीष्म
८५	११	एतर्ति	एतर्हि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८७	१	दिया	का दिया
,,	१३	ला हि	अकेला हि
८८	२	से जा	से जाननी चाहिए ।
,,	४	गुहा ज	गुहा जरन्नाम महत्पदम ॥
८९	४	क २ द्	क । तद्
,,	१३	देता	देता है
,,	१४	रात्री	रात्री के समय
९०	२	पृ० ८४	पृ० ९१
९४	६	की रचना	के आकार
९८	४	मध्यें	मध्य में
१०३	२	उस	उत
,,	१७	प्रवृत्ति	प्रकृति
१०९	७	हुआ	हुआ जीव
,,	१५	मर्यात्त	मर्यादा
११५	४	यत	तत्
११६	१०	माता	मरता
११८	८	विचारि	विचारी
१२०	१४	(विधर्त्य)	(विधर्ता)
,,	,,	(ददर्ता)	(ददते)
१२३	७	(यदमं)	(यक्षं)
१२५	७	वर्हाद्धि	वृहद्धि
१२७	५	बाढने	बढ़ाने
१२८	५	अन्तकाल	अन्तराल
१३०	२०	शक्र	शत्रू

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३१	१६	सकाम	सकाम कर्म
१३१	५	कल्पन्त	कल्पान्त
१३७	१६	वात	वात
१४१	१३	पृ०……	पृ० ८९ और ६०
१४४	४	मा पत्यर्यावृतो	मा मपर्यावृतो
१४५	१३	(दंष्टु)	(द्रष्टुं)
१५०	१३	प्रात	प्राप्त
१५५	८	बड़ा है	बड़ा घड़ा है।
१५६	१	(तं न जाते)	(तेन जातं)
१६६	३	विष में	विषय में
१७१	१०	से होया	से रोया
१७२	८	१०।३।१	११।३।१४
,,	१४	लोहितमस्य लो	लो–
१७३	६	(वातैः)	(वातः)
१७५	११	येषां	तेषां
१७८	१८	गर्भ	कर्म
१८३	६	करोगे तो	करोगे और यदि पुरुष का वध करोगे तो
,,	१७	करने	करने वाले
१८४	५	शौर्य	शौर्य का
१८८	३	यमरणा	यमरपा
,,	७	(अरणाः)	(अरपाः)
१९१	८	वेणोरद्ग्रा	वेणोरद्गा
,,	१३	(वेणोः अद्ग्राः)	(वेणोः अद्गाः)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६८	१७	गवटया	गवय्या (गायक)
२०५	८	कग्नी	करना
२०६	५	राज्ञानां	राज्ञां
२०८	१८	कयाय	कषाय
२१०	१०	ओन	ओज
२१६	१५	हाथ	साथ
२२१	८	शत्रन्	शत्रून्
२२२	३	मस्तो घ्ना	मरुतो घ्न
,,	१४	दत्तां	अदत्तां
२२३	१७	तमग	तमसा
२२७	६	मन	मैने
,,	१०	रहता	रहना
२३१	२१	त्तत्रियात्	क्षेत्रियात्
२३२	३	विश्वस भेषजीः	विश्वस्य भेषजीः
२३८	६	प्रमुत्व	प्रभुत्व
२४०	४	(सात-घः)	(सात घ्नः)
२४१	१७	वि ारी	विचारी
२४३	२	प्रात निं	प्रातरग्निं
२४४	१५	अब	अव
२४७	१५	नपत	वपत
२५३	४	मघवानं	मघवानं

———o———

---

१ से १६ पृष्ठ अशुद्धि पत्र तथा टाईटल पंजाब प्रिंटिंग वर्क्स लाहौर में पं० चरणदास बी०ए० प्रोप्राईटर की आज्ञानुसार म० राजपाल के लिए छपा और बाकी पुस्तक मौडल प्रेस लाहौर में छपा।